नानेश वाणी क्रमांक – 5

कषाय - समीक्षण

भाग - 1

(क्रोध एवं मान का स्वरूप-विश्लेषण)

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

- नानेश वाणी – 5
  कषाय–समीक्षण
  (भाग–1, क्रोध एवं मान का स्वरूप–विश्लेषण)

- आचार्य श्री नानेश

- प्रथम संस्करण :
  अक्षय तृतीया, मई 2002, 1100 प्रतियाँ

- मूल्य : 30/–

- अर्थ सहयोगी :
  श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका
  चेन्नई (सारोठ)

- प्रकाशक :
  श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

- मुद्रक :
  दिलीपकुमार वया "अमित"
  'मिच्छामि दुक्कडम्' हिन्दी मासिक
  12, वीरप्पन स्ट्रीट,साहूकारपेट, चेन्नई–600 079
  दूरभाष : (044) 5383350

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएँ अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका यह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तम्भ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियाँ युगों–युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "नानेश वाणी" पुस्तक श्रृंखला के अंतर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस सन्दर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व में 'कषाय–समीक्षण' नाम से प्रकाशित पुस्तक की नई आवृत्ति है। इसमें कुछ संशोधन परिष्करण भी हुआ है। इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका, चेन्नई (सारोठ) के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूँ।

यद्यपि सम्पादन–प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शान्तिलाल सांड

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

एक दीप आदित्य बन गया
(आचार्य श्री नानेश संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नान्हा दीप,
सदा हरता तिमिर जग का,
सहज शांत अभीत !

छोटा–सा दीपक, गाँव की मिट्टी की सोंधी गंध से सुवासित, सुसंस्कारों के नेह से सिंचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन में युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहुं ओर परिव्याप्त निबिड़ अंधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को अमंगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, "नाना" दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय था आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारों ने कहा भी है–

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति।।

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार में वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात् ब्रह्म ही तो ये जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हैं– "वटस्य पत्रस्य पुटः" शयानम् बालमुकुंदम् शिरसा नमामि" और उन्हीं के संरक्षण में नव सृष्टि का विकास संभव हुआ था। अज्ञानांधकार के हरण में महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योंकि

"उतमतं गुणेहि चेव पविज्जई"। उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है और गुणों की ही पूजा होती है– "गुणः पूजास्थानं न च लिंग न च वयः।" यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवें पाट के अधिष्ठाता का पद "नानालाल" को देने की पूर्वपीठिका की दिशा में उन्हें युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी श्रृंगार बाई का ममताव्याकुल संशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो– "ई घणा भोला टाबर है, यां पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।"

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अंधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वतः ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का संकल्प। इस संकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रल्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली में सजाता जाए जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी संकल्प की पूर्ति में "नाना दीप" ने दीपित संत–सतियों की एक सुदीर्घ श्रृंखला ही सर्जित कर दी थी। एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई थी। सम्पूर्ण संसार को अपनी ज्योति–परिधि में आवेष्ठित कर लेने के लिए और जगती का आँगन आचार्य श्री के नेश्राय में दीक्षित दीपकों की लम्बी श्रृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असंदिग्ध प्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योंकि ज्ञान–साधना और समाज–निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाँच सौ वर्षों में भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियाँ अत्यंत विषम थी। एक अत्यंत सीमित साधु–साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहों से टकराव, विरोधों की उग्रता एवं दुर्बल संघीय व्यवस्था अपने आप में विकट समस्याएँ थी। परन्तु "दिवा समा आयरिया पण्णता" आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्ज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अतः भीषण झंझावात के उस काल में जब

श्रमण संघों एवं श्रावक संघों की भावनाएँ भीषणरूप से आलोड़ित थी, इस संघ प्रज्वलित दीपक ने साहस–पूर्वक घोषणा की थी।

"संघर्ष से ही नवनीत निकलता है और संघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नों पर नहीं चल सकता।"

और प्रारंभ हुई थी लड़ाई– दिए की और तूफान की, जिसमें दीया विजयी हुआ था। झंझावत शांत हुआ था सद्भाव स्नेह, सहयोग और समर्पण की मंद फुहारों से सम्पूर्ण जन–जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमंगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग में तपने की। संवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी संत अपने–पराये, शत्रु–मित्र, हानि–लाभ, जय–पराजय आदि के भावों से मुक्त होते हैं। सोना तप कर कुंदन बनता है और संघर्षों में स्थिरमति रहकर मनस्वी वंदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखं।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचन कांतवर्णम्।।

अशांति, विरोधी और संघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतंक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियों के उपचार में यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य संदेशों द्वारा इस संत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुंदर काव्यात्मक दिदर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में हुई है–

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,

पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा में यात्राओं, चातुर्मासों और उदबोधनों के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था– उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ़ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामंडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस सम्पूर्ण जीव–सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन में समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चंदन और संत, भेद–अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह भंडार सबके लिए उन्मुक्त रखते हैं। फिर इस प्रकाशपुंज की ज्योति सीमा मैं कैसे बंधती ? प्रसंग अनेक हो सकते हैं। परन्तु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिए सामाजिक उत्क्रान्ति की युगांतकारी दृष्टि धर्मपालों की अटूट श्रृंखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नत स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो "कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।" भगवान् महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल् नामक चाण्डाल के लिए यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क संगत कहाँ बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमें गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामों के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण! अवगुण नहिं जानत, कंचन करत खरो– तब संत के संसर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यों नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने

गंगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण कराकर प्राणिपात्र के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा में मानव मात्र के लिए अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपांतरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक बाग्जाल में उलझी अवधारणाओं को, सरल व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिंतन को सैद्धान्तिक आग्रहों से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखंड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हें अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का ही सहज समाधान प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म को रूप में मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिंतन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानवृत्ति के परिष्कार, पुननिर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वयं किया एवं करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान की पद्धतियों को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुँचाने में आत्मा–परमात्मा, जीवन–ब्रह्म, द्वैत–अद्वैत आदि से संबंधित विविध चिंतन धाराओं का जिस प्रकार समता दर्शन में समन्वय किया गया, वह स्वयं में उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार संहिता बना सकनेवाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन–जन के ह्दय को संस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाँच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अधःपतन के मूल कारण है। ये ही आत्मा की परमात्मिकता में व्यवधान डालने वाले भी हैं।

पाँच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटे दिवस अरु संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि ने सके कोई।।

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए, जो रमैया की दुल्हन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए संत कबीर ने पहले ही कह दिया था–

ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै ।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोठ बिरला पेषै।।
मूसा बैठा बांबि पे, लारे सांपणि धाई ।
उलटि मूसै सांपिण, गिली यह अचरज भाई।।
नाव में नदिया डूबी जाई....।।

आकाश के औंधे कुए से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है, उसे कोई बिरला हंस ही पीता है। यह उलटबांसी नहीं, सत्य है, तत्त्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत् किसी रूप में अर्थवान बनता है । एक नन्हें दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन ।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य बन गया ।।

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है, यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य में निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण करता है और अपने पीछे छोड़ जाता है एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की संध्यावंदन करते साधकों ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य

के प्रकोष्ठ में प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुनः आकाश मार्ग से लौट गई थी!! यह चमत्कार था और हम जानते हैं, चमत्कार होते हैं। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, संपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माएँ आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती हैं।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ज्वलित कर गया है..... रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ़ कंधों पर वहन करने में पूर्ण सक्षम है..... दीप की आदित्य बनने की दिशा में एक और यात्रा प्रारंभ हो गई है। साधुमार्ग में यह परंपरा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी, यह तथ्य उस परम्परा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये हैं। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरें लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पांच सौ वर्षों तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

–डा. आदर्श सक्सेना

बी–17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज.)

अर्थ-सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी रांका, चेन्नई (सारोठ)

स्वनाम धन्य श्रेष्ठिवर स्व. श्री रोड़मलजी सा. रांका तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। श्री रोड़मलजी स्व. श्री मेघराजजी रांका के पुत्र हैं। श्रीमान् रोड़मलजी अत्यन्त उदार, सरल, धर्मनिष्ट, सेवाभावी, सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। आपने अनेक व्रत–प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। चतुर्थ व्रत को भी आपने ग्रहण किया था। नियम पूर्वक 5–6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे। स्व. आचार्य श्री नानालालजी म.सा. के आप परम भक्त थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री बालचन्दजी रांका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में मद्रास को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ–साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी यश प्राप्त किया। तण्डियारपेट में 'समता भवन' निर्माण में आप का मुख्य सहयोग रहा। इनके पुत्र श्री अशोक भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। श्री संपतराजजी एवं पारसमलजी साहब एवं पुत्री श्रीमती नवरतन बाई हैं।

आपके छोटे पुत्र श्री रतनलालजी रांका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न हैं। आप अनेक संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। हर संस्था में आपका योगदान है। आप का धार्मिक–सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आप 'सादा जीवन उच्च विचार' को चरितार्थ करते हैं। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ,

तण्डियार पेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रसंशनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद् मंत्री हैं। श्री अ.भा.सा. जैन संघ के आप न केवल कार्यकारिणी के सदस्य हैं बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्त्ता भी हैं। अनेक स्थानीय एवं बाहर की संस्थाओं में आपका पूर्ण आर्थिक सहयोग रहा है।

आपने केवल व्यापार एवं धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं।

आपका प्लास्टिक तथा इलेक्ट्रिक का व्यापार आर.आर. प्लास्टिक तथा आर.आर इलेक्ट्रो ट्रेडर्स के नाम से है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोष बाई धार्मिकवृत्ति की, संतसेवा में अग्रणी आतिथ्य सत्कार एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत–प्रतिशत चरितार्थ होती है कि हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है। आपके दो पुत्र श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। आपके एक पौत्र भी है – श्री ऋषभकुमार।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ट परिवार है। आदर्शत्यागी पंडितरत्न धर्मेशमुनिजी एवं साध्वी श्री जयश्रीजी के आप संसारपक्षीय साला एवं भाई हैं।

आप का परिवार आचार्य श्री नानेश एवं रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने स्व. आचार्य श्री नानालालजी म.सा. एवं वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ की साहित्य समिति को प्रकाशित करवाने हेतु सहायतार्थ अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए साहित्य समिति आपकी आभारी है।

क्रोध-समीक्षण

समीक्षण ध्यान की विधा इतनी विलक्षण एवं प्रभावोत्पादिका है कि उसकी विधिवत् साधना से साधक की अन्तर्दृष्टि जागृत होकर यथातथ्य अवलोकन में सक्षम बन जाती है। वैसी अन्तर्दृष्टि समभावना एवं समदर्शिता के आधार पर एक ओर जड़ तत्त्वों की विभिन्न पर्यायों की भीतरी परतों को देख लेती है तो दूसरी ओर वह आत्मा की प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तियों के रहस्यों का अवलोकन भी कर लेती है। वस्तुतः समीक्षण ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक आत्मदृष्टा बन जाता है। उसकी दृष्टि तब समीक्षण–दृष्टि हो जाती है।

समीक्षण दृष्टि की शक्ति से ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि मानव–जीवन के विकास को चरम लक्ष्य तक पहुँचा देने में कौन सी वृत्तियाँ अवरोध रूप हैं तथा उन अवरोधों को दूर करने में किस प्रकार का पुरुषार्थ सहायक हो सकेगा ?

सिद्धात्मा और संसारी आत्मा के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल उस स्वरूप की आवृत्तता एवं अनावृत्तता का। संसारी आत्माओं के मूल स्वरूप पर कर्मावरण होता है और सिद्धात्मा पूर्ण रूप से अपने मूल तेजस्वी स्वरूप में निरावृत्त होती है। ये कर्मावरण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों को आच्छादित किये रहते हैं, आत्मा की ही अपनी विपथगामिनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के कारण विषय कषाय से अनुरंजित होकर उसकी वैसी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के कुप्रभाव से आत्मा के मूल गुण दब जाते हैं, छिप जाते हैं अथवा विकृत रूप ले लेते हैं। प्रवाह रूप में अनादि काल से संसारी आत्मा की यही स्थिति बनी हुई है।

समीक्षण–ध्यानी अपनी विशिष्ट विवेक शक्ति द्वारा अशुद्ध आत्म–स्वरूप का पृथक्करण करता है। और अशुद्धता के कारणभूत काषायिक वृत्तियों को भी देखता है। श्री आचारांग सूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ उद्देशक में कहा गया है– "से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स,

आयाणं सगडब्भि।" अर्थात् काषायिक वृत्तियों रूपी अवरोधों को शास्त्रोक्त रीति से संयम का अनुष्ठान करके दूर कर सकते हैं। यह उपदेश किसी सामान्य व्यक्ति का नहीं बल्कि उन सर्वज्ञ तीर्थंकरों का है जिन्होंने स्वयं इन शस्त्र रूप अवरोधों को समीक्षण ध्यान द्वारा दूर किया तथा अपने आन्तरिक विकारों का समूल उन्मूलन करके भव-भ्रमण का अन्त किया और परम पद प्राप्त किया। अतः इस उपदेश में किंचित्मात्र भी सन्देह को स्थान नहीं।

मोक्ष का अधिकारी कौन ?

वीतराग वाणी के अनुसार वही मोक्ष का अधिकारी बनता है जो पुरुष सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करते हुए संयम का अनुपालन करता है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का क्षय करके आठों कर्मों तथा तज्जन्य विकारों का क्षय करता है और फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम सूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के क्षय को मुक्ति प्राप्ति का मुख्य साधन कहा गया है। इसका कारण यह है कि कषाय ही प्रमुख रूप से आत्म-गुणों का घात करने वाली है। कषाय की व्याख्या यह है कि जो आत्म-गुणों को कषे (नष्ट करे) तथा भव-भ्रमण की आय-वृद्धि उत्पन्न करे। अतएव कषाय के स्वरूप को समझना तथा उससे विरति लेने के उपायों को अपनाना परमावश्यक हो जाता है।

आत्मा की विकास-यात्रा के ये सभी काषायिक अवरोध दूर हों और उसका मूल स्वरूप निरन्तर उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता रहे, तभी मोक्ष का अधिकार निरन्तर समीप से समीपतर आता है। अतएव मोक्ष के इस अधिकार को समग्र रूप से समाहित कर लेने के लिए कषायों को विलग करने का पुरुषार्थ क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

काषायिक वृत्तियों का जब समग्र रूप से उन्मूलन हो जाता है तो चेतना शक्ति परिपूर्ण रूप से उद्भासित हो जाती है और उसका अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव प्रकट हो जाता है। तब पुरुष समस्त पदार्थों के समग्र का ज्ञाता, त्रैकालिक गुण पर्यायों का दृष्टा, सर्वज्ञ,

सर्वदर्शी बन जाता है। क्योंकि परमाणु आदि द्रव्यों में से जो किसी एक को परिपूर्णतः जानता है, वह संसार के समस्त पदार्थों को भी सम्पूर्णतया जानता है और जो संसार के समस्त पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से जानता है, वही एक पदार्थ को समग्रता के साथ जान सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षाओं से एक–एक पदार्थ की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं और इनका समस्त रूप से ज्ञान कषाय क्षय के पश्चात् ही सम्भव बनता है।

यही नहीं, कषाय–क्षय के पश्चात् भय की परिसमाप्ति भी हो जाती है। ऐसा साधक पूर्णतः निर्भय हो जाता है क्योंकि मोक्ष मार्ग की आराधना में आस्था रखने वाला तथा तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम के अनुसार आचरण करने वाला, अप्रमत्त विवेकवान मुनि ही क्षपक श्रेणी के योग्य होता है। ऐसा पुरुष छह कायों के जीव रूप लोक को सर्वज्ञ भगवान के आगमोपदेश से जानकर किसी भी प्राणी को भयभीत नहीं बनाता है। वह स्वयं निर्भय होता है, और दूसरों को निर्भयता प्रदान करता है, उसके आसपास निर्भयता का पावन–प्रशान्त वातावरण स्वतः निर्मित हो जाता है।

कषाय-विरति का मार्ग

जो साधक कषायों का क्षय कर देता है, उसे किसी से भी भय नहीं रहता तथा उससे भी किसी को भय नहीं रहता है। प्राणियों को शस्त्रों के द्वारा भय उत्पन्न होता है। ये शस्त्र दो प्रकार के होते हैं– द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। भाव शस्त्रों में कषायों का मुख्य स्थान है। ये शस्त्र तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होते हैं और इनका अन्त अशस्त्र रूप संयम से ही होता है। संयम ही कषायविरति का राजमार्ग है।

साधना से ही सम्यग् दृष्टा होकर साधक समीचीन कषाय–दर्शी बन सकता है। आत्मा स्वयं ही जब कषाय वृत्तियों का समीक्षण करने लगेगी, तभी उसे स्पष्ट रूप से अनुभूति होने लगेगी कि उसके मूल गुणों का घात करने में ये कषाय कितने अनर्थकारी हैं। उन अनर्थकारी स्वरूप के दर्शन के बाद ही यह अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्जागृति

उत्पन्न हो सकेगी कि इन कषायों का क्षय किया जाना आवश्यक है।

आचारांग सूत्र के तृतीय शीतोष्णीय नामक अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में कहा गया है–

"जे कोह दंसी, से माण दंसी
जे कोह दंसी, से माण दंसी
जे कोह दंसी, से माण दंसी
जे माण दंसी, से माया दंसी
जे माया दंसी, से लोभ दंसी
जे लोभ दंसी, से पिज्ज दंसी
जे पिज्ज दंसी, से दोस दंसी
जे दोस दंसी, से मोह दंसी
जे मोह दंसी, से गब्भ दंसी
जे गब्भ दंसी, से जम्म दंसी
जे जम्म दंसी, से मार दंसी
जे मार दंसी, से णरय दंसी
जे णरय दंसी, से तिरिय दंसी
जे तिरिय दंसी, से दुक्ख दंसी

से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणे उवरयसत्थस्स पट्टलियंतकरस्स आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स ? ण विज्जई ? णत्थि।। 25।। त्ति बेमि।।

अर्थात् जो पुरुष क्रोध को (अनर्थकारी) देखता है, वह मान को (अनर्थकारी) देखता है और इसी प्रकार माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह को (अनर्थकारी) देखता है वह गर्भावास के, जन्म–मरण के तथा नरक व तिर्यंच गति के दुःखों को भी देखता है, उन्हें अनर्थकारी मानता है तथा उनसे मुक्त होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। कषाय जनित दुःखों से मुक्त होने का उपदेश सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों का है। क्या सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी तीर्थंकरों को किसी प्रकार की उपाधि होती है ? नहीं होती है।

ऐसा स्वयं तीर्थंकर देव फरमाते हैं।

क्रोधादि कषायों का "दर्शी" बनना अर्थात् इन कषायों के स्वरूप, इनके प्रकार, इनकी परिणति एवं इनके दुर्विपाक का समीक्षण करना। यह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया मानी गई है। जो साधक अपनी आत्मा के भीतर उतरता है और भीतर के स्वरूप को अपनी ज्ञान दृष्टि से देखता है, वही आत्म–दृष्टा कहलाता है। ऐसा आत्म–दृष्टा इन कषायों को भी देखता है और यह भी देखता है कि ये कषाय किन–किन रूपों में आत्म–गुणों पर आघात पहुंचाते हैं ?

इस कषायदर्शन से उसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काषायिक परिणामों की जटिलता एवं तीक्ष्णता कैसी होती है तथा उससे सफल संघर्ष करने के लिये उसकी संयम–साधना कितनी उत्कृष्ट होनी चाहिये।

कषायों का वर्गीकरण

कषाय के मूलतः चार प्रकार हैं– क्रोध, मान, माया, और लोभ।

आचारांग सूत्र में किया गया कषायों का वर्गीकरण आध्यात्मिक होने के साथ–साथ गूढ़ वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक भी है। सम्यकदृष्टा साधक के मन एवं आत्मीय भावों में जब काषायिक वृत्तियां सक्रिय होने लगती है, तब वह आत्मदृष्टा साधक कषायों के तारतम्य को तुलनात्मक रूप से देख सकता है। कषायों की तरतमता की दृष्टि से ही उनका शास्त्रीय वर्गीकरण किया गया है। पहले से दूसरा तथा दूसरे से तीसरे कषाय की जटिलता एवं तीक्ष्णता सूक्ष्मतर होती हुई चली जाती है। इसीलिए कहा गया है कि जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है, जो मानदर्शी होता है वह मायादर्शी होता है, जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है आदि आदि। इस क्रम का अभिप्राय यह है कि क्रोध से मान की जटिलता एवं तीक्ष्णता अधिक, तो उससे माया की अधिक। इस प्रकार इन कषायों की उत्तरोत्तर अधिक जटिलता एवं तीक्ष्णता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है तथा उन्हें त्यागने का पुरुषार्थ क्रियान्वित

किया जा सकता है।

क्रोध कषाय

कषायों के इस क्रम में क्रोध सबसे पहले है। उल्लिखित सूत्र– "से वंता कोहं च माणं च............." में क्रोधादि के वमन की बात कही गई है। इस पर जिज्ञासु की जिज्ञासा सहज ही प्रस्तुत होती है–क्रोधादि का वमन कैसे किया जाय ? क्रोध उदर में पड़ा स्थूल पदार्थ तो नहीं है, जिसे वमन कर दिया जाय। यह तो आत्म प्रदेशों से सम्बन्धित कर्म–वर्गणा के पुद्गल–स्कंध रूप है और वे स्कंध भी योग और कषाय रूप मन्द, मन्दतर, मन्दतम एवं तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अध्यवसायों के रंग से अनुरंजित परिणामों के कारण बंधन को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के अध्यवसायों से एक समय जिन और जैसे कर्म–स्कंधों का आत्मा के साथ सम्बद्ध होने का प्रसंग आता है, दूसरे समयों में अन्य प्रकार के अध्यवसायों के कारण अन्य ही प्रकार के कर्म स्कंध बद्ध होते हैं। इस प्रकार क्रोधादि से सम्बन्धित कर्म–स्कंध एक ही तरह के नहीं होते हैं। फिर उनके वमन करने का विधान कैसे फलित हो सकता है ? यह जिज्ञासा अति महत्त्वपूर्ण है।

इसका समाधान प्राप्त करने के लिये एकावधानता, एकाग्रता की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए साधक बाह्य विषयों के परिवेशों में सम्बन्धित अवलोकन का रूपान्तरण करके अन्तर्मुखी बने। इस अन्तर्मुखी अवलोकन में आन्तरिक ज्ञान–प्रज्ञा के चक्षु उद्घाटित करने होंगे जो सम्यक् विशेषता से समन्वित हों।

ऐसे सम्यक् अवलोकन को ही समीक्षण ध्यान की संज्ञा दी गई है। इस प्रज्ञा–रूप चक्षु से शरीर में रहे हुए समग्र तत्वों का समभावपूर्वक अवलोकन करना चाहिये। इस शरीर पिण्ड के भीतर जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का सन्धियुक्त जाल बिछा हुआ है, उसके छिद्रों में अपनी आन्तरिक प्रज्ञा का अवरोध न करते हुए उन छिद्रों में रहे विवरों से प्रतरों एवं प्रतरों की सन्धियों का सम्यक् अवलोकन करना चाहिये। इस अवलोकन में साधक को अत्यन्त धैर्य के साथ गतिशील

रहना चाहिये। तभी समीक्षण की शक्ति तीक्ष्ण होती हुई आगे आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध कर्म–स्कंधों तक पहुंचाई जा सकती है। तब उसे और अधिक तीक्ष्ण बनाने की आवश्यकता होती है, क्योंकि कर्म–स्कंध सिर्फ क्रोधादि कषायों से ही सम्बन्धित नहीं हैं। वे तो अन्य कर्मों से भी सम्बन्धित रहते हैं। ये कर्म–स्कंध भी एक दो नहीं, परन्तु अनन्तानन्त हैं जो असंख्य–असंख्य अध्यवसायों के रंगों से अनुरंजित होते हैं। उनमें वे बहुलता के कषायों से अनुरंजित रहते हैं। उन कर्म–स्कंधों में से सिर्फ क्रोध–कषाय के स्कंधों को तथा उनके तारतम्य को समीक्षण का विषय बनावें।

समीक्षण दृष्टि से 'कोहदंसी' बनें

समीक्षण–दृष्टि से जब क्रोध के कर्म–स्कंधों का अवलोकन किया जाता है तो उनका अवलोकन करने वाला एवं समग्र तारतम्य से युक्त उन स्कंधों को सम्पूर्ण आत्म–प्रदेशों से विलग करने वाले "वंता" की स्थूल प्रक्रिया है, किन्तु यह स्थूल प्रक्रिया भी साधक के द्वारा कब उत्पन्न हो सकती है ? इसका संकेत प्रभु महावीर ने सारगर्भित विधि से दिया है।

समीक्षण के लिये साधक की अवधानता तभी बन सकती है, जब वह सतत् प्रयत्नपूर्वक चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए जागृत रहे। इस जागृति में यदि कोई अवरोधक तत्त्व हैं तो उनको नमा कर उन्हें स्वयं के नियंत्रण में करना एवं स्वयं की जागृति के माध्यम से स्वयं नियंता बनना अत्यन्त आवश्यक है।

क्रोधादि काषायिक भाव ऐसे अवरोधक तत्त्व हैं जिन्हें एक शास्त्रीय–शब्द द्वारा कहा जाय तो वह होगा "प्रमाद"। प्रमाद, जागृत दशा की सुषुप्ति है। द्रव्यतः जागते हुए भी भावतः सुषुप्त रहना अर्थात् अनवहित रहना प्रमाद है। अनवहित अवस्था का लाभ उठाकर ही अन्य सभी अवरोध रूपी तस्कर क्रियाशील हो जाते हैं–उभरते हैं। अतः जब तक साधक प्रमत्त है, वह उपर्युक्त विधि से समीक्षण सम्बन्धी अवधानता को निरन्तर साध नहीं सकेगा, क्योंकि साधक की

एकाग्रता प्रमत्ता से छिन्न–भिन्न हो जाती है। ऐसी दशा में वह "कोह दंसी" भी नहीं बन सकेगा।

यदि साधक पहले से भी अधिक क्षमता प्राप्त करके आन्तरिक शुद्धि की प्रबलता के साथ प्रमाद को पराजित कर देता है तो वह विजेता होकर "कोह दंसी" और उससे आगे का भी दृष्टा बन जाता है। प्रमत्ता की पराजय से, उससे उत्पन्न होने वाली काषायिक एवं अन्य विकृत वृत्तियां स्वयमेव पराजित हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि इन सभी वृत्तियों को स्व–नियंत्रण में लेकर उनको पराजित करना ही प्रमत्त भाव को पराजित करना है।

तब साधक "कोह दंसी" बनकर क्रोध के कर्म–स्कंधों को देखने लगता है। वह उन कर्म–स्कंधों के तारतम्य को विश्लेषित भी करने लगता है। इस विश्लेषण से यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसा कर्म–स्कंध कितनी रस–शक्ति को रखने वाला है तथा रस एवं स्थिति–काल मर्यादा सम्बन्धी उसकी कितनी प्रगाढ़ता या अल्पता है ? इस ज्ञान के साथ कर्म–स्कंधों की मूल सत्ता प्रकम्पित होती है, क्योंकि तब "कोह दंसी" उन स्कंधों का क्षय करने के लिये तत्पर बन जाता है।

किन्तु साधक के लिये निर्देश दिया गया है कि वह आगमों में उल्लिखित विधेयात्मक आज्ञाओं के आधार पर ही आगे बढ़े। क्योंकि उन आज्ञाओं में अनुभूत तथ्य और सर्वज्ञता का सत्य भरा हुआ है। अन्तर्जागृति के साथ जब वह साधक वीतराग देव की आज्ञाओं का अनुपालन करेगा तभी वह क्रोधादि कषायों के कर्म–स्कंधों का भली–भांति विश्लेषण कर सकेगा तथा उस विश्लेषण से उन्हें क्षीण करने का पुरुषार्थ सक्रिय बना सकेगा। सच्चे अर्थों में तभी वह "कोह दंसी" (क्रोध दर्शी) आदि बन सकेगा।

क्रोध की तरतमता

समीक्षण दृष्टि के विस्तार के पश्चात् ही यह विदित हो सकता है कि परिणामों की आन्तरिकता में क्रोध की तरतमता किस रूप में चल रही है ? क्रोध के कर्म–स्कंध किस रीति से क्रियाशील हैं ? क्या वे

अनन्तानुबन्धी वृत्ति से सम्बन्धित हैं, अथवा अप्रत्याख्यानादि वृत्तियों से ? वे तीव्र रस वाले हैं, अथवा मन्द रस वाले ? और उनमें भी वे निकाचित हैं या अनिकाचित ? उनका किस अवस्था में अवस्थान चल रहा है ? इस तथ्य का भी अवलोकन किया जाना चाहिये कि क्या वे कर्म–स्कंध सत्तागत हैं ? यदि वे सत्तागत हुए तो उनका समीक्षण करने में कठिनाई अधिक आयेगी और यदि वे उदयगत हैं तो कठिनाई अपेक्षाकृत कम होगी।

क्रोध की सत्तागत एवं उदयगत अवस्थाओं की चर्चा करें, उससे पहले उसकी तरतमता की विभिन्न श्रेणियों की जानकारी जरूरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से क्रोध के तारतम्य को, साथ ही अन्य कषायों के भी तारतम्य को परखने के लिए निम्न श्रेणियाँ वर्णित की गई हैं–

अनन्तानुबन्धी श्रेणी

समभाव को सर्वथा भूलकर जब कोई गहरे आक्रोश से भर उठता है और रोष की उस जटिलता को सुदीर्घ काल तक पकड़े रहता है तब वह इस श्रेणी में फँसा हुआ माना जाता है। इसे समझने के लिए शास्त्रों में एक स्थूल उदाहरण दिया गया है कि जैसे पर्वत शिला टूट जाने से उसमें पड़ जाने वाली दरार का पटना असंभव–सा होता है, उसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध कब और कैसे समाप्त होगा–इसका अनुमान कठिन ही है। क्रोध की यह जटिलता एवं तीक्ष्णता इतनी आत्मगुण–घातक मानी गई है कि इसके रहते सम्यक्दर्शन तक का वरण संभव नहीं होता है, जो साधना का मूलाधार है, मोक्ष महल का प्रथम सोपान है और जिसके अभाव से समस्त ज्ञान और अनुष्ठान साध्य (सिद्धि) की दृष्टि से निरर्थक हैं।

अप्रत्याख्यानावरण श्रेणी

यह श्रेणी प्रथम श्रेणी से कम जटिल एवं कम तीक्ष्ण होती है, किन्तु इस श्रेणी में फंसी हुई आत्मा श्रावकत्व–आंशिक संयम की साधना से वंचित रहती है। इस श्रेणी के स्वभाव को परखने के लिए

सूखी मिट्टी की दरार का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे– तालाब का पानी जब पूरी तरह से सूख जाता है तो उसकी सूखी हुई मिट्टी में जगह–जगह दरारें पड़ जाती हैं। लेकिन वे दरारें सुदीर्घकाल तक नहीं टिकती हैं। ज्योंही पुनः वर्षा आती है और तालाब में पानी भरता है तो उसके संयोग से वे दरारें फिर भर जाती है। इस प्रकार इस श्रेणी के क्रोध की तीव्रता अनन्तानुबंधी क्रोध से कम होती है।

प्रत्यास्व्यानावरण श्रेणी

इस श्रेणी के क्रोध की तीव्रता अप्रत्याख्यानावरण क्रोध से भी कम होती है, किन्तु अगली श्रेणी संज्वलन क्रोध से तीव्र होती है। इस श्रेणी के क्रोध की उपमा रेत में खींची गई लकीर से दी गई है। जैसे– हाथ की अंगुली से रेत में खींची गई लकीर, ज्योंही हवा का झौंका चलता है, मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध कुछ समय तक ही टिकता है। इससे सकल संयम–साधुत्व गुण का घात होता है।

संज्वलन श्रेणी

यह क्रोध की मन्दतम श्रेणी है। यह साधक को कषाय के सर्वथा त्याग की ओर आगे बढ़ाने वाली श्रेणी है। यह श्रेणी पानी में खींची हुई लकीर के तुल्य वर्णित की गई है। अंगुली से पानी में लकीर खींची जाय तो यही होगा कि इधर लकीर खींची और उधर मिट गई। इसी प्रकार इस श्रेणी का क्रोध इधर आया और उधर गया–इतना अल्पजीवी होता है। संज्वलन क्रोध की अवस्था में यथाख्यात चारित्र का घात होता है। इस श्रेणी से ऊपर उठने पर क्रोध कषाय की सम्पूर्णतया परि–समाप्ति हो जाती है।

इस प्रकार क्रोध के भाव–परिणामों एवं कर्म–स्कंधों के सम्यक् प्रकार से किये गये अवलोकन से उसकी तरतमता का विश्लेषण किया जा सकता है और तदनुसार किस प्रकार के पुरुषार्थ की उस वर्तमान श्रेणी से ऊपर की श्रेणी में पहुंचने के लिए आवश्यकता होगी; इसका सही–सही अनुमान लगाया जा सकता है।

क्रोध की अभिव्यक्ति

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस अवस्था में रहने वाले क्रोध–कर्म–स्कंधों की अभिव्यक्ति के चित्र तक ले लिये हैं। इस अवस्था तक पहुँच कर वे क्रोध–कर्म–स्कंध निर्जरित तो होने लगते हैं, किन्तु वे नये कर्म–स्कंधों के निर्माण की सामग्री भी छोड़ जाते हैं, जिससे आत्मा और अधिक नवीन क्रोध–कर्म–स्कंधों का संचय कर लेती है। यह प्रवाह अनादि काल से चल रहा है।

सत्तागत क्रोध–स्कंधों का प्रारंभिक अवस्था में अवलोकन होना भी अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु अशक्यता जैसी कोई बात नहीं है। हाँ, उदयगत स्कंधों का अवलोकन अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक हो सकता है। इसके लिये आवश्यकता होती है, समीक्षण दृष्टि की। जिस दृष्टि के द्वारा सत्तागत और उदयगत क्रोध के कर्म–स्कंधों का सम्यक् अवलोकन करने की ऊर्जा प्राप्त कर ली जाय।

कर्म–स्कंध दो रूपों में उदय को प्राप्त होते हैं–एक स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर होने वाला कर्मोदय और दूसरा उदीरण विशेष द्वारा अनुदय प्राप्त सम्बन्धित कर्म–स्कंधों को उदय प्राप्त बनाने पर होने वाला उदय। इन दोनों प्रक्रियाओं में बाह्य निमित्त भी उभर कर सामने आते हैं। यद्यपि स्वाभाविक रूप में होने वाले उदय में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावादि की अपेक्षा रहती है, तथापि उदीरणा में बाह्य निमित्त प्रधान होता है।

यहाँ इतनी विशेषता ध्यान में रखनी चाहिये कि बाह्य निमित्तों की अपेक्षा विपाकोदय एवं उदीरणा के लिये ही है। जब किसी कर्म–स्कंध का स्थिति काल पूर्ण होता है तो वह बाह्य निमित्त के. अभाव में भी अनायास उदय में आकर निर्जीण–क्षीण हो जाता है। कभी–कभी निमित्त भले ही कमजोर हो, पर वे क्रोध–स्कंधों को तो अवश्य उत्तेजित कर देते हैं।

क्रोध का उदय होने पर, क्रोध का प्रकटीकरण होना एवं उसके निमित्त के यत्किंचित् दोष को बड़े रूप में प्रकट करने का अथवा

निमित्त का दोष न होने पर भी उसमें दोष के आरोप का प्रसंग पैदा करना विचारणीय बन जाता है। उस समय समीक्षण पूर्वक निमित्त के, व्यवहार का विश्लेषण करना अति आवश्यक बन जाता है तथा उसके प्रति होने वाले विषम भाव को समभाव में परिणत करने की तत्परता बनाना साधक के लिये महत्त्वपूर्ण होता है।

विषम भाव को समभाव में किस प्रकार परिणत किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक को पारमार्थिक चिन्तन करना चाहिये कि जो भी कर्म–स्कंध उदय में आये हैं और उनका जो भी इष्ट या अनिष्ट विपाक हो रहा है, उसका कर्ता तो मैं स्वयं ही हूँ।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

—आचार्य अमितगति

अर्थात् अतीत में इस आत्मा ने जो भी, जैसे भी, शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, उन्हीं का शुभाशुभ फल वह पाता है। दूसरों द्वारा दिया फल भोगना पड़े तो अपने किये कर्म निरर्थक–निष्फल ही हो जाएँ।

आगम कहता है–

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य।

अर्थात् अपने सुख–दुःख का कर्ता–हर्ता स्वयं आत्मा ही है।

इस प्रकार के पारमार्थिक चिन्तन से अवगत होना कि जो भी परिस्थिति मेरे समक्ष उपस्थित है, उसका उपादान कारण मैं स्वयं हूँ। इस अवगति से पर–निमित्त कारण के प्रति होने वाला राग–द्वेष उम्पन्न नहीं होगा और राग–द्वेष जन्य विषम भाव भी उत्पन्न न हो सकेगा।

निरन्तर इस प्रकार का समीक्षण करने से विषम भाव उत्पन्न ही नहीं होगा और एक समय ऐसी मानसिक स्थिति बन जायेगी कि विषम

भाव को समभाव में परिणत करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। साधक का समभाव प्रत्येक परिस्थिति में अखण्डित ही बना रहेगा।

साथ ही कर्म–स्कंधों का जैसा स्वरूप हो उसी स्वरूप में उनका अवलोकन करना चाहिये तथा उससे होने वाली हानि–लाभ का चिंतन समता भाव से करना चाहिये। इस आन्तरिक एवं सूक्ष्म अवलोकन में बाह्य रूपक का आश्रय भी लिया जा सकता है। जैसे काला नाग घर में घुस जाय तो हर कोई उसे बाहर निकाल देने में ही अपना हित समझता है। वह उसे छेड़ने का प्रसंग नहीं लाता हुआ यदि नाग स्वतः ही बाहर निकल जाय तो बहुत प्रसन्न होता है। घर में नाग के रहने पर परिवार के सभी सदस्यों को खतरा बना रहता है, क्योंकि नाग न जाने किस समय किस को डस ले–अपना जहर उन पर छोड़ दे ? वह घर में रहा और कभी किसी के द्वारा छेड़ दिया गया तो खतरा भयावह हो सकता है। जिस व्यक्ति को वह डस लेता है, उसके जहर का उस व्यक्ति के शरीरस्थ ग्रन्थि तंत्र के सभी केन्द्रों पर असर पड़ता है। शरीर के भीतर में विषवर्षी ग्रन्थि–तंत्र भी होते हैं, तो अमृत ग्रंथि–तंत्र भी होते हैं। बाहर के मारक विष का प्रभाव होने पर अमृत–वर्षी ग्रन्थितंत्र भी निष्क्रिय होने लगते हैं तथा विषवर्षी ग्रंथि–तंत्र सक्रिय, जिसके कारण बाहर के जहर तथा भीतर के जहर के संयुक्त हो जाने से एक नयी विष शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है।

जैसे इस रूपक में परिवार के सदस्यों की दशा बनती है, वैसे ही ये क्रोध–स्कंध इस शरीर रूपी घर में रहने वाले केन्द्रों एवं ग्रंथि–तंत्रों रूप सदस्यों के लिये काले नाग का काम करते हैं। जब ऐसे कर्म–स्कंध उदित होते अर्थात् अपना प्रभाव प्रकट करते हैं, तब नेत्रों के लाल हो जाने के साथ सर्प की जिह्वा की तरह रक्तिम विष–तरंगें मनुष्य के ज्ञान–तंत्र पर छा जाने लगती हैं।

क्रोध का वैज्ञानिक स्वरूप

शरीर में एक कंठमणी भी होती है, जिसे यौगिक भाषा में विशुद्धि चक्र कहा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक जिस ग्रन्थि को "थाइराइड"

कहते हैं। जिससे एक प्रकार के अमीयरस का स्राव होता है। वैज्ञानिक जिसे थायरोक्सिन कहते हैं, जिसके फलस्वरूप शरीर के समस्त केन्द्रों तथा ग्रंथि–तंत्रों को संपुष्टि प्राप्त होती है। इस रस का अनुसंधान इसी शताब्दी में किया गया है। इस रस के सिवाय इस प्रकार के अन्य रस भी भीतर में स्रवित होते रहते हैं, जिनका शरीर–संस्थान के संचालन में विविध रूपों में उपयोग होता है।

क्रोध से होने वाली हानियों को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिकों ने भी कहा है–

भय और क्रोध की अवस्था में जिस तरह मुंह से लार पैदा करने वाली गिल्टियाँ ठीक से काम नहीं कर पाती हैं, जिससे ऐसी अवस्था में मुंह सूखा जाता है, उसी तरह यह गिल्टी भी ठीक से काम नहीं करती। अतएव जितने परिमाण में वह गिल्टी साधारणतः थायरॉक्सिन नामक रस का उत्पादन करती है, उतने परिमाण में वह भय और क्रोध की अवस्था में उस रस को उत्पादित नहीं करती। रक्त में इस रस की कमी होने पर शरीर में अनेक प्रकार की बिमारियाँ पैदा होती हैं। थायरॉक्सिन एक प्रकार का अमृत रस है। यह अमृत हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है तथा रोगों का विनाश करता है। इसकी कमी होने पर शरीर की विनाशात्मक क्रियाओं की वृद्धि हो जाती है तथा मनुष्य का मृत्युकाल निकट आ जाता है। सिर दर्द, हृदय की धड़कन, अपंच आदि रोग बढ़ जाते हैं। शरीर की स्फूर्ति और तेज चले जाते हैं। इस तरह जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक भय और क्रोध सताते हैं, उसका शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही नष्ट हो जाता है।

इन अमीय रसों के अतिरिक्त विषवर्षी ग्रन्थियाँ भी भीतर में मौजूद हैं, जिनका रस भी शरीर में यथास्थान आवश्यक कार्यों के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु बहुत ही नियंत्रित एवं सीमित रूप में। इन ग्रन्थि–तंत्रों का ज्ञान भले ही भौतिक वैज्ञानिकों को इसी शताब्दी में हुआ हो, परन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी तीर्थंकर देवों के केवलालोक में इतना ही नहीं, अपितु समूचा विज्ञान भासित था। इसीलिये उन्होंने इस विषय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं, जिनका ज्ञान समीक्षण

ध्यान के अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का क्रोध के स्वरूप के सम्बन्ध में एक और मत भी है। वे क्रोध के प्रकटीकरण के बाद उससे उसी के होने वाले संक्षय को महत्त्व देते हैं। उनकी अभी तक की धारणा यह है कि जो क्रोध एक बार उत्पन्न हुआ और वह यदि पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाय तो क्रोध सदा के लिये समाप्त हो जाएगा। उसकी अभिव्यक्ति को न होने देने या उसे दबाने से उसक़ा प्रवाह कायम रहता है। किन्तु उनकी यह धारणा आंशिक है। वे इस दिशा में गति–शील रहें तो उन्हें अपनी आंशिकता का अनुभव भी हो जाएगा। इस अनुभव से ही वे अपने अनुसंधान में आगे बढ़ सकेगें। वे यदि इस अनुसंधान में वीतराग वाणी का आश्रय लें तो अभीष्ट लक्ष्य तक शीघ्र पहुंच सकेंगे। उस समय उनको सही रूप से ज्ञात होगा कि अवयवों में अभिव्यक्त क्रोध का संक्षय क्या सर्वथा एवं सर्वदा के लिए संक्षय को प्राप्त हो गया ? नहीं, अवयवों में अभिव्यक्त क्रोध अधिक नूतन क्रोध सम्बन्धी कर्म–स्कंधों को निर्मित करने वाला बनेगा। अतः आवश्यक यह है कि उदयगत क्रोध–ऊर्जा का न निरोध किया जाय और न ही उसे पूरी तरह अभिव्यक्त ही किया जाय। बल्कि इस क्रोध–ऊर्जा को क्षमा के पुट से रूपान्तरित कर देना क्रोध का विधिवत् संक्षय कहलायेगा।

वैसे वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध किया है कि विचारों तथा भाव–परिणामों की भी तरंगें तथा रूप व रंग होता है। क्रोध का रूप भयावह तथा रंग गहरा लाल माना जाता है। इसकी तरंगें मन को उद्वेलित करने वाली होती है। क्रोध की स्थिति में मनुष्य किसी भी प्रकार पूर्णतया शान्त नहीं रह सकता है। क्रोध की अवस्था ऐसी होती है कि मनुष्य के अन्तःकरण में उबाल उठता है जो उसके मन और तन को उत्तेजित तथा विकृत बना देता है। इस कारण इस अवस्था में जो भी कार्य किया जाता है उसका रूप भी दूषित हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध की ऐसी परिणति भी मानी गई है कि यदि क्रोध की अवस्था में माता अपने बालक को स्तन–पान कराती है तो वह बालक रुग्ण हो जाता है। क्रोध की अवस्था में लिया

गया भोजन भी विष बन जाता है।

क्रोध : स्वरूप-समीक्षण

क्रोध की अवस्था अत्यन्त उग्रता और प्रचण्डता से आक्रान्त होती है और इसका आक्रमण कारण एवं परिणामों के अनुसार कभी धीरे–धीरे और कभी अचानक होता है। एक बार इसका प्रभाव गहरा हो जाता है तो बिरले ही इसके प्रभाव से अपने को बचा पाते हैं। काले नाग से जिनकी उपमा दी गई है, वैसे क्रोध के स्कंध लाल–लाल चिनगारियों के साथ विष–वर्षा करते हैं, एवं ज्ञानादि–केन्द्रों को प्रभावित करते हुए कंठमणि के रस को अवरुद्ध कर देते हैं। परिणामस्वरूप शरीर में विष ग्रंथियों का नियंत्रण समाप्त सा हो जाता है और उनका रस भी शरीर में व्याप्त होने लगता है। परिणामस्वरूप पहले प्रत्यक्ष दृष्टि में आने वाली शारीरिक क्षतियाँ शुरू होती हैं क्योंकि शरीर की अभिवृद्धि एवं उसका संपोषण तथा संरक्षण करने वाली अमृत रस वर्षी ग्रंथियाँ अपने कार्य सुचारू रूप से करना बन्द कर देती हैं। विषवर्षी ग्रंथियों के सक्रिय हो जाने से शरीर का सम्पोषक रक्त कुछ मात्रा में तो जल जाता है तथा जो अवशिष्ट रहता है उसमें विष का प्रभाव पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में भयंकर शारीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

क्रोध का स्वरूप–समीक्षण करते हुए प्रत्येक साधक को गम्भीर चिंतन करना चाहिये कि क्रोध क्यों उत्पन्न होता है ? क्रोध की अवस्था में क्या क्षतियाँ होती हैं तथा क्रोध पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ? समीक्षण विधि से क्रोध का विश्लेषण प्रत्येक साधक को करते रहना चाहिये ताकि क्रोध के शमन एवं संक्षय के सफल उपाय अपनाए जा सकें। जब तक क्रोध के स्वरूप एवं उसके प्रभाव से होने वाली हानियों को अवलोकन करने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा तब तक साधक के लिये क्रोध रूप महा चाण्डाल को परास्त करना शक्य नहीं बन सकेगा।

क्रोध–आन्तरिक सद्वृत्तियों के लिये अतीव घातक होता है, एक

भयानक शस्त्र के समान। अनादि कालीन कर्म–सम्पर्क के कारण आत्मा की प्रायः सभी वृत्तियां विकार ग्रस्त बनी हुई रहती हैं। वृत्तियों का जिनकी वजह से वैकारिक रूप ढ़लता है, वे होते हैं काम–भोगों की विचारणा के केन्द्र। इन केन्द्रों व उपकेन्द्रों का पूरे शरीर में जाल सा बिछा हुआ रहता है। शरीर के प्रत्येक अवयव से काम तृप्ति की न्यूनाधिक रूप से चेष्टा होती रहती है। जब किसी बाह्य तत्त्व को काम–दृष्टि से देखने का प्रसंग आता है तब लोभ के रूप में रागवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कामानुरंजित लोभ की पूर्ति के लिये उस बाह्य तत्त्व को प्राप्त करने हेतु प्रत्येक सुलभ प्रयत्न किया जाता है। जब उन प्रयत्नों में असफलता का भान होने लगता है, तब वह वृत्ति टेढ़ा मेढ़ा रूप बनाती है और द्वेष के विकारों से ग्रस्त बन जाती है। उन प्रयत्नों में यदि सफलता मिल जाती है तो उस समय मान का विकारी भाव जागता है।

अब अहंकार ग्रस्त वृत्तियों पर किसी भी ओर से आघात होता है तो उस आघात पर प्रत्याघात करने के लिये क्रोध रूपी शस्त्र उभर कर आता है। यह शस्त्र पहले भीतर में प्रकट होता है, फिर वह शरीर व्यापी बनकर बाह्य शस्त्रों को अपनाता है। कहा गया है–

क्रोधः प्राणहरः शत्रुः, क्रोधोऽमितमुखो रिपुः ।
क्रोधः असि समुहातीक्ष्ण, तमास्त् क्रोधं विवर्जयेत् ।।

क्रोध को प्राण हरण करने वाला अनेक मुखी शत्रु बताते हुए यही कहा गया है कि यह तेज धार वाली तलवार के समान है।

संहारक शस्त्र के रूप में क्रोध

विश्व में विविध प्रकार के संहारक शस्त्रास्त्रों का अतीत में जो निर्माण होता रहा है और वर्तमान में हो रहा है उसके पीछे मूल में क्रोध रूपी शस्त्र ही रहा हुआ है। यह शस्त्र उन समग्र आन्तरिक काम–वासनाओं से प्रभावित वृत्तियों का संरक्षण करने वाला होता है जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओं से जागृत होती रहती हैं। ये बाहर की आयुधशालाएँ स्वतः प्रेरित उतनी नहीं होतीं, जितनी कि बाहर से समझ

में आती हैं। इनकी जड़ें क्रोध के स्कंधों में होती हैं और वह क्रोध जिन रूपों में फूटता है और वह जैसा सांघातिक रूप लेता है, उसके अनुसार ही ये आयुधशालाएँ संहार की मारक प्रवृत्तियों में नियोजित की जाती हैं।

संहारक शस्त्र के रूप में क्रोध जिस प्रकार भीतर और बाहर विनाश का तांडव रचता है, उससे सर्वप्रथम आत्मा की शुद्ध वृत्तियों का ही नाश होता है। क्रोध उनको प्रतिशोध के विकार से रंग कर कलुषित बना देता है। शुद्ध वृत्तियों के नाश से अभिप्राय उनके विकृत एवं दूषित हो जाने से है। जैसे बेड़ियों से जकड़कर किसी को कारागार में डाल देने से उसकी जिस रूप में बाह्य दशा देखी जा सकती है, वैसी ही आन्तरिक दशा का अनुमान क्रोध की अवस्था में किया जा सकता है। उस समय क्रोध के संहारक शस्त्र के आघातों से परमात्मा के तुल्य आत्मा का अवमूल्यन हो जाता है। आन्तरिक शक्तियों का जिस रूप में हनन क्रोध के शस्त्र से होता है, वह हनन आत्मा के संसार परिभ्रमण को अधिक जटिल तथा अधिक दुःखदायक बना देता है। यह निकाचित बंध का एवं बंध की दीर्घकालीन स्थिति का भी कारण बनता है।

संहारक शस्त्रों के रूप में आज विषमय रासायनिक शस्त्रों को मानवता विरुद्ध अत्यन्त जघन्य अपराध माना जाता है। लेकिन क्रोध के दुष्परिणाम उन शस्त्रों से कम भीषण नहीं हैं। क्रोध का विष मस्तिष्क के ज्ञान–तन्तुओं को शून्य बना देता है और अपनी तीव्रता के अनुसार उनको अधिकाधिक निष्क्रिय कर देता है। इस क्रोध को कई मेगाटन शक्ति वाला बम भी कह सकते हैं जो जहाँ गिरता है, वहाँ की आत्म–गुणों की उपजाऊ भूमि को नष्ट–भ्रष्ट कर डालता है। क्रोध के इस कुप्रभाव की विष–तरंगें इस प्रकार फैल जाती हैं कि जो क्रोधी के तन–मन को दीर्घकाल तक स्वस्थ नहीं होने देतीं।

क्रोध एक प्रकार के ऐसे कर्म स्कंधों का समूह होता है, जो उदय में आने पर शरीर के अणु–अणु में फैल जाते हैं और नवीन कर्मों

का संचय करने लग जाते हैं। उस समय क्रोध की प्रबल शक्ति अग्नि ज्वाला की भांति उष्ण तरंगें प्रवाहित करती हैं तथा शरीर की आकृति पर उसकी छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। उस समय तो क्रोध के उस संहारक स्वरूप को स्थूल दृष्टि से भी देखा और महसूस किया जा सकता है। क्रोध क इस बाह्य अभिव्यक्त स्वरूप के फोटोग्राफ भी लिये जा सकते हैं, ऐसा बताया जाता है। बाहर से क्रोध का जो यह उग्र स्वरूप दिखाई देता है, उसे उपचार से द्रव्य–क्रोध की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः क्रोध–कर्म के स्कंध पौद्‌गलिक होने से द्रव्य क्रोध कह गये हैं और उनके निमित्त से होने वाला आत्मिक अध्यवसाय भाव क्रोध है। बाहर से नेत्रों की रक्तता, भृकुटि चढ़ना, होठों का फड़कना आदि जो उग्र या प्रचण्ड रूप दृष्टिगोचर होता है, वह दोनों प्रकार के क्रोध का ही कार्य है। अतएव उसे भी द्रव्य क्रोध कहा जा सकता है। इन दोनों प्रकार के क्रोधों का बीजांकुर की तरह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये परस्पर एक–दूसरे को उत्तेजित बनाते हुए विनाश–लीला की रचना करते हैं तथा संहारक रूप को दिखाते हैं।

क्रोधोत्पत्ति के कारण

शास्त्रकारों ने क्रोध की उत्पत्ति के चार मुख्य कारण बताये हैं।

1–क्षेत्र–खेत, जंगल, चरागाह आदि खुली भूमि सम्पत्ति,

2–वस्तु–अर्थात् मकान, दुकान आदि आच्छादित भूमि,

3–शरीर–अर्थात् अपनी काया एवं

4–उपाधि–उक्त तीन के अतिरिक्त शेष सारी साधन सामग्री।

आशय यह है कि जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में जो–जो कामनाएँ उपजती हैं और उन कामनाओं के अनुसार जब व्यक्ति उन पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा में लगता है, तब उन चेष्टाओं में आने वाले आघातों के कारण पहले भीतर में क्रोध की उत्पत्ति होती है और बाद में बाहर उसके विविध रूप फूटते हैं। अतः मूल रूप में यह कहा जा

सकता है कि काम और कामनाओं की प्राप्ति के बीच में आने वाली बांधाओं के कारण क्रोध अधिकांशतः उत्पन्न होता है। गीता के दूसरे अध्याय में इसी के अनुसार कहा गया है–"कामात्क्रोधोऽभिजायते।" तथ्य यह है कि किसी प्रकार की सांसारिक कामना ही क्रोध को आमंत्रण देना है। संसारी आत्मा तो न जाने कितने प्रकार की कामनाओं से ग्रस्त रहती हैं। ऐसी दशा में क्रोध से दूर रहना बहुत ही कठिन कार्य होता है।

कामजयी ही क्रोधजयी हो सकता है। जो क्रोध को समीक्षण दृष्टि से देख लेता है और उससे दूर हटने का यत्न करता है वह तज़्जनित इच्छाओं का भी धीरे–धीरे अन्त करने वाला बन जाता है। "इच्छा हु–आगाससमा–अणंतिया" के अनुसार आकाश के सदृश इच्छाएँ अनन्त हैं। इच्छाओं के शमन का पुरुषार्थ क्रोध का शमन करने के पुरुषार्थ से जुड़ जाता है।

प्रकारान्तर से क्रोध की उत्पत्ति जिन बाह्य कारणों से उत्तेजना पाती है, उन्हें इस प्रकार गिनाया है–

1–**दुर्वचन**– कटु वचन को तलवार की धार की उपमा दी जाती है। तलवार का घाव तो कालान्तर में शीघ्र भर जाता है लेकिन दुर्वचन का घाव दीर्घकाल तक हरा रहता है। इस दृष्टि से जब एक व्यक्ति किसी प्रकार के दुर्वचन दूसरे के प्रति उच्चारित करता है तो सुनने वाला साधारणतया क्रोध से तिलमिला उठता है।

2–**स्वार्थपूर्ति में बाधा**– मन में किसी उपलब्धि की कामना करके जब व्यक्ति उसकी पूर्ति हेतु बाह्य प्रयत्न प्रारंभ करता है और अपने उस स्वार्थ को सफल बनाना चाहता है, तब उसके बीच जो भी बाधा उपस्थित करता है, उसके प्रति उग्र क्रोध भड़क उठता है, क्योंकि वह बाधा उसकी कामना पर आघात करती है।

3–**अनुचित व्यवहार**– जब कोई व्यक्ति अपने प्रति व्यवहार किये जाने की अमुक धारणा बना लेता है और सामने वाला जव उसके साथ उस धारणा की तुलना में निम्न कोटि का व्यवहार करता है तो

उससे वह व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है। धारणा के सिवाय व्यवहार के सामाजिक मानदण्ड भी होते हैं और उनकी अपेक्षा से भी व्यवहार की अनुचितता का निर्णय लिया जा सकता है।

4–भ्रम– कई बार सामने वाले का अनुचित व्यवहार करने का कोई इरादा नहीं होता और इसी प्रकार कई कार्यों में अहितकारी आशय नहीं होता फिर भी व्यक्ति वैसा होने का भ्रम कर बैठता है। उस भ्रम से भ्रमित होकर भी क्रोधावेश के चक्कर में फंस जाता है।

5–विचारभेद या रुचिभेद– प्रायः देखा जाता है कि कई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपने विचारों से भिन्न विचार अथवा अपनी रुचियों से भिन्न रुचियाँ सहन नहीं कर पाते हैं और उनकी सहनशीलता का वह अभाव क्रोध का कारण बन जाता है।

वास्तव में क्रोधोत्पत्ति के समस्त कारणों को गिन पाना या गिनाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे कारण विभिन्न व्यक्तियों, उनके सामने वाली विभिन्न परिस्थितियों, उनके कारण उत्पन्न आन्तरिक परिणामों तथा उनसे फूटने वाले बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं। एक व्यक्ति के सम्बन्ध में ही इस रूप में क्रोध के असंख्य कारण हो सकते हैं तो सबसे सम्बन्धित कारणों की संख्या की सीमा कैसे बांधी जा सकती है ? इसलिये कामना पर आघात को क्रोध की उत्पत्ति का मूल कारण मानना चाहिये।

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार भी उपर्युक्त दृष्टि से संख्यातीत होते हैं किन्तु उनका एक वर्गीकरण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है:–

1. आत्म प्रतिष्ठित

अपने ही दोष से संकट उत्पन्न होने पर अपने ही ऊपर क्रोध उत्पन्न होना (किसी भी उत्तेजक विचारणा के आधार पर क्रोध का प्रस्फुटन अपने भीतर से ही हो अर्थात् क्रोध भीतर ही प्रतिष्ठित हो और

सकता है कि काम और कामनाओं की प्राप्ति के बीच में आने वाली बांधाओं के कारण क्रोध अधिकांशतः उत्पन्न होता है। गीता के दूसरे अध्याय में इसी के अनुसार कहा गया है–"कामात्क्रोधोऽभिजायते।" तथ्य यह है कि किसी प्रकार की सांसारिक कामना ही क्रोध को आमंत्रण देना है। संसारी आत्मा तो न जाने कितने प्रकार की कामनाओं से ग्रस्त रहती हैं। ऐसी दशा में क्रोध से दूर रहना बहुत ही कठिन कार्य होता है।

कामजयी ही क्रोधजयी हो सकता है। जो क्रोध को समीक्षण दृष्टि से देख लेता है और उससे दूर हटने का यत्न करता है वह तज्जनित इच्छाओं का भी धीरे–धीरे अन्त करने वाला बन जाता है। "इच्छा हु–आगाससमा–अणंतिया" के अनुसार आकाश के सदृश इच्छाएँ अनन्त हैं। इच्छाओं के शमन का पुरुषार्थ क्रोध का शमन करने के पुरुषार्थ से जुड़ जाता है।

प्रकारान्तर से क्रोध की उत्पत्ति जिन बाह्य कारणों से उत्तेजना पाती है, उन्हें इस प्रकार गिनाया है–

1–**दुर्वचन**– कटु वचन को तलवार की धार की उपमा दी जाती है। तलवार का घाव तो कालान्तर में शीघ्र भर जाता है लेकिन दुर्वचन का घाव दीर्घकाल तक हरा रहता है। इस दृष्टि से जब एक व्यक्ति किसी प्रकार के दुर्वचन दूसरे के प्रति उच्चारित करता है तो सुनने वाला साधारणतया क्रोध से तिलमिला उठता है।

2–**स्वार्थपूर्ति में बाधा**– मन में किसी उपलब्धि की कामना करके जब व्यक्ति उसकी पूर्ति हेतु बाह्य प्रयत्न प्रारंभ करता है और अपने उस स्वार्थ को सफल बनाना चाहता है, तब उसके बीच जो भी बाधा उपस्थित करता है, उसके प्रति उग्र क्रोध भड़क उठता है, क्योंकि वह बाधा उसकी कामना पर आघात करती है।

3–**अनुचित व्यवहार**– जब कोई व्यक्ति अपने प्रति व्यवहार किये जाने की अमुक धारणा बना लेता है और सामने वाला जब उसके साथ उस धारणा की तुलना में निम्न कोटि का व्यवहार करता है तो

उससे वह व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है। धारणा के सिवाय व्यवहार के सामाजिक मानदण्ड भी होते हैं और उनकी अपेक्षा से भी व्यवहार की अनुचितता का निर्णय लिया जा सकता है।

4—भ्रम— कई बार सामने वाले का अनुचित व्यवहार करने का कोई इरादा नहीं होता और इसी प्रकार कई कार्यों में अहितकारी आशय नहीं होता फिर भी व्यक्ति वैसा होने का भ्रम कर बैठता है। उस भ्रम से भ्रमित होकर भी क्रोधावेश के चक्कर में फंस जाता है।

5—विचारभेद या रुचिभेद— प्रायः देखा जाता है कि कई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपने विचारों से भिन्न विचार अथवा अपनी रुचियों से भिन्न रुचियाँ सहन नहीं कर पाते हैं और उनकी सहनशीलता का वह अभाव क्रोध का कारण बन जाता है।

वास्तव में क्रोधोत्पत्ति के समस्त कारणों को गिन पाना या गिनाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे कारण विभिन्न व्यक्तियों, उनके सामने वाली विभिन्न परिस्थितियों, उनके कारण उत्पन्न आन्तरिक परिणामों तथा उनसे फूटने वाले बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं। एक व्यक्ति के सम्बन्ध में ही इस रूप में क्रोध के असंख्य कारण हो सकते हैं तो सबसे सम्बन्धित कारणों की संख्या की सीमा कैसे बांधी जा सकती है ? इसलिये कामना पर आघात को क्रोध की उत्पत्ति का मूल कारण मानना चाहिये।

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार भी उपर्युक्त दृष्टि से संख्यातीत होते हैं किन्तु उनका एक वर्गीकरण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है:—

1. आत्म प्रतिष्ठित

अपने ही दोष से संकट उत्पन्न होने पर अपने ही ऊपर क्रोध उत्पन्न होना (किसी भी उत्तेजक विचारणा के आधार पर क्रोध का प्रस्फुटन अपने भीतर से ही हो अर्थात् क्रोध भीतर ही प्रतिष्ठित हो और

कारण पाते ही प्रस्फुटित हो जाये।)

एक विद्यार्थी अपना परीक्षाफल श्रवण कर अत्यन्त व्यथित–व्याकुल बन गया। परीक्षाफल उसको उद्वेलित बना रहा था। क्रोध का वेग तीव्रता धारण कर रहा था कि इतना कठोर परिश्रम करने के उपरांत भी कैसे वह अनुत्तीर्ण हुआ। इस दशा पर विचार करते–करते उसका क्रोधानल अधिकाधिक भड़क रहा था। हीन विचारों का शिकार बनता हुआ वह अपने जीवन को भारस्वरूप महसूस करने लगा। वह विचार करने लगा कि मैं अपना मुंह पारिवारिक जनों और मित्रों को कैसे बताऊँ। मैं मुँह बताने लायक नहीं रहा। अनुत्तीर्णता की व्यथा उसके मन–मस्तिष्क को झकझोर रही थी। आखिर वह क्रोधजनित संज्ञाहीनता में इस निर्णय पर पहुंचा कि ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा मरना ही श्रेष्ठ है। इस भावना के साथ वह वहाँ से आगे बढ़ा–अपने निश्चय को पूर्ण करने। महरौली की कुतुबमीनार पर चढ़ा और जीवन से हतोत्साह–निराश बना नीचे कूद पड़ा, अपनी जीवनलीला को समाप्त करने। जीवन को समाप्त करने की यह दशा घोर अज्ञानतापूर्ण ही कही जायेगी। ऐसी अज्ञानता से भवभ्रमण की श्रृंखला बढ़ने के साथ ही दुःख–द्वन्द्व की अवस्था अधिक प्रगाढ़ बनती है। यह घटना दिल्ली चातुर्मास के समय की है। यह स्वात्म प्रतिष्ठित क्रोध की दशा है।

2. पर प्रतिष्ठित

किसी अन्य व्यक्ति की उत्तेजना से क्रोध का प्रस्फुटन हो अर्थात् क्रोध अपने आप भीतर से नहीं किन्तु अन्य व्यक्ति के किसी विचार या व्यवहार से जागे–तो वह क्रोध का पर प्रतिष्ठित प्रकार कहलाता है।

एक साधक साधना के पथ पर गतिशील था। तपस्या में ही अपने जीवन को संयोजित कर के चल रहा था, किन्तु उसके अन्तर में क्रोध की ज्वाला धधक रही थी। उसके शमन की ओर उसका लक्ष्य नहीं बन पा रहा था। तप के पारणे के दिन गुरु महाराज के समक्ष उत्तेजित होकर कहने लगा–"आज मेरे तेले यानि अष्टम भक्त का पारणा है। आज्ञा हो तो भिक्षार्थ जाऊँ ?"

शिष्य की बात श्रवण कर गुरु महाराज शांत भाव से मधुर शब्दों में उसे कहते हैं–"शिष्य, पतला कर।"

शिष्य गुरु महाराज का आशय न समझने के कारण विचार करने लगा कि गुरु महाराज मेरी शारीरिक स्थूल दशा को पतला करने का संकेत फरमा रहे हैं। ऐसा सोच पुनः तपाराधना में लग जाता है। इस तरह तपश्चरण करते–करते शरीर शुष्क बन गया, अन्त में वह संथारे का आग्रह करने लगा किन्तु पुनः पुनः गुरु महाराज का एक ही संकेत बार–बार सुनता रहा। उसे सुन–सुन करके उसका क्रोध भड़क उठा, मस्तिष्क का संतुलन टूट गया और वह विवेकविकल बना उसी संज्ञा शून्य दशा में अपने ही हाथ से अपनी अंगुली मोड़ कर गुरु महाराज पर फेंकते हुए क्रोधावेश में तीव्र रोष भरे स्वर में कहने लगा–"अब मैं क्या पतला करूँ ?" मेरा शरीर तो इतना पतला जीर्ण–शीर्ण शुष्क हो चुका है। मुझसे आप क्या चाहते हैं ?" आदि आदि।

गुरु महाराज ने मुस्कुराते हुए शांत भाव से मधुर स्वर में कहा–"तुमने इस देह को तो शुष्क कर लिया किन्तु तुम्हारे अंतरंग में कषाय का रस प्रगाढ़ता लिये हुए है। उसे पतला करो।" यह दशा पर प्रतिष्ठित क्रोध की है।

3. तदुभय प्रतिष्ठित

इस प्रकार पहले तथा दूसरे प्रकारों का मिश्रित रूप है। अपने और दूसरे के किसी विचार या व्यवहार के कारण जो क्रोध जगे वह तदुभय प्रतिष्ठित कहलाता है। प्रणय के पाश में बंधा एक नवविवाहित युवक ससुराल पहुंचा पत्नी को लेने। युवक का स्वभाव तेज–तर्रार था। उसका वहाँ आदर सत्कार हुआ जब उसने पत्नी को साथ भेजने के लिये कहा, तब उसके ससुर ने दिशाशूल, वार वगैरह अनुकूल न होने से इन्कार कर दिया। इन्कार करते ही उसके क्रोध का पारा आसमान को छूने लगा। कहने लगा–"मैं पुनः नहीं आऊँगा, दूसरी शादी कर लूँगा।" शांति से समझाने पर भी वह नहीं माना तब ससुर

साहब के मुंह से निकल गया–"अभी नहीं भेजेंगे। आप पुनः नहीं आयेंगे तो यही समझ लेंगे कि पुत्री विधवा हो गई।" यह सुनते ही वह क्रोध से बेभान हो गया, बोला–"अब मैं आपकी पुत्री को विधवा बनाकर ही रहूँगा।" उपाय सोचते हुए वहाँ से निकला और क्रोधावेश में आत्मघात का निर्णय कर कुए मैं गिर पड़ा। निश्चय ही संपूर्ति हेतु ऐसी स्व–पर दाहक क्रोध की अवस्था को तदुभय प्रतिष्ठित क्रोध की संज्ञा दी गई है।

4. अप्रतिष्ठित

जो क्रोध किसी अन्य व्यक्ति के अथवा अपने निमित्त से न उत्पन्न होकर क्रोध कषाय के उदय मात्र से सहसा भड़क उठे, वह क्रोध का अप्रतिष्ठित प्रकार माना गया है। इस प्रकार बिना किसी निमित्त के ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इन चारों प्रकार के क्रोधों में उपादान कारण आत्मा है, क्योंकि क्रोध–रूप परिणति आत्मा की एक अवस्था है। निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं। अन्तरंग और बहिरंग। क्रोधों का अन्तरंग निमित्त कारण क्रोध कषाय–चारित्र मोहनीय का उदय है। यह भी सब में समान नहीं होता है। हाँ, अहिरंग निमित्त कारण पृथक्–पृथक् हैं और इसी के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार के क्रोध में आत्मा, दूसरे में आत्मातिरिक्त कोई अन्य सजीव या निर्जीव पदार्थ, तीसरे प्रकार में दोनों और चतुर्थ प्रकार अन्तरंग निमित्त कारण से ही उत्पन्न हो जाता है।

कभी–कभी इन कारणों में सम्मिश्रण भी हो जाता है, तथापि प्रधानता–गौणता की विवक्षा करने से यह वर्गीकरण समीचीन ही है।

एक योगी महात्मा अपने शिष्य परिवार के साथ भू–मण्डल पर विचरण कर रहे थे। वे शांत प्रकृति एवं सौम्य आकृति के थे। जीवन में संयम की साधना और तप–आराधना सम्यक् रूपेण कर रहे थे। क्रोध को तनु–तनुतर करते हुए अन्तरात्मा का दिव्यानन्द ले रहे थे।

शिष्यों को भी समय–समय पर यथायोग्य संयमानुकूल शिक्षा देते रहते। शिक्षा को श्रवण कर प्रायः शिष्य हर्षोल्लास का अनुभव करते और आभार व्यक्त करते। पर वे समभाव के साथ राग–द्वेष को परे करते हुए चल रहे थे। एक शिष्य को वह शिक्षा त्रिशूल की भांति खटकती, द्वेषोत्पादक बनती। वह सोचने लगता कि क्या हम से ही स्खलनाएँ होती हैं, गुरु महाराज से नहीं ? वह प्रतिशोध लेने हेतु छिद्रों का अन्वेषण करता रहता। एक दिन उपयोग पूर्वक चलते हुए भी गुरु महाराज से कुछ असावधानी हो गई। शिष्य रास्ते में ही चिल्लाने लगा और गुरु महाराज को प्रायश्चित के लिये बाध्य करने लगा। गुरु वस्तुस्थिति समझ उपेक्षापूर्वक शांत भाव से आगे बढ़े, और उपाश्रय पहुंचे, संध्या का प्रतिक्रमण किया। आलोचनादि श्रवण कर रहे थे तभी वह जोर से बोल उठा–"आप अपनी गलती का प्रायश्चित कर लीजिये।" इस बात को पुनः पुनः जोर–जोर से दुहराने लगा। आखिर समता एवं धैर्य का बांध टूटा और गुरु भी क्रोधोन्मत्त बन गये। उन्होंने जीवन की परिसमाप्ति कर डाली। यह है क्रोध की अप्रतिष्ठित दशा का भयंकर परिणाम।

क्रोध प्रस्फुटित होने के प्रकारों में एक अन्य वर्गीकरण का संकेत भी शास्त्रों में मिलता है। इस वर्गीकरण के चार प्रकार हैं–

1. *आभोगनिवित्तए : (आभोगनिर्वर्तित)*

कामनायुक्त भोज्य पदार्थों की प्राप्ति में बाधाओं के कारण क्रोध का फल जानते हुए भी जो क्रोध प्रस्फुटित होता है, वह अभोगनिवित्तए–आभोगनिर्वर्तित कहलाता है, अर्थात् भोगेच्छाओं की पूर्ति के निमित्त फल–ज्ञान के उपरान्त भी प्रस्फुटित होने वाला क्रोध ।

2. *अणाभोगनिवित्तए : (अनाभोगनिर्वर्तित)*

इसमें भोगेच्छाओं की पूर्ति के निमित्त से प्रस्फुटित होने वाले क्रोध के साथ फल–ज्ञान नहीं होता। क्रोधी यह नहीं जानता कि उसके क्रोध करने का उसे क्या फल भोगना पड़ेगा।

3. उवसंत-उपशान्त

जो क्रोध अभी तक उदय में नहीं आया, सत्ता में ही विद्यमान रहता है, वह उपशान्त क्रोध कहलाता है। क्रोध का यह प्रकार उपशांत दशा में रहता है। क्रोध भीतर ही भीतर उमड़ता–घुमड़ता है किन्तु क्रोध करने वाला उसे बाहर प्रकट नहीं होने देता है। बाहर से उस क्रोधी का ऐसा रूप दिखाई देता है जैसे–कि उसे किसी पर कोई क्रोध नहीं है।

4. अणुवसंतए-अनुपशान्त

जो क्रोध उदय में आ चुका है वह अनुपशान्त कहा जाता है। जब यह क्रोध तीव्र रूप में प्रस्फुटित होता है तो उसे उपशांत करने का कोई प्रयत्न नहीं होता है। क्रोध करने वाला अपने क्रोध को खुले रूप से बाहर प्रकट होने देता है।

मूल रूप से क्रोध क्रोध–स्कंधों का सम्बन्ध आत्म–तत्त्व के साथ है। जब तक क्रोध–कषाय का क्षय नहीं हो जाता, प्रकारान्तरों से वह भीतर और बाहर प्रस्फुटित होता रहता है। इस प्रकार संसारी आत्माओं की नानाविध वृत्तियों, प्रवृत्तियों तथा अनेक प्रकार के निमित्तों के अनुसार बनते, बदलते और नये–नये रूपों में ढ़लते रहते हैं। क्रोध की संलग्नता से मानव हृदय छोटी–छोटी घटनाओं के प्रभाव से आन्दोलित हो उठता है।

क्रोध के घातक दुष्परिणाम

एक साधक अति कठिन साधना कर रहा था। वह अत्यल्प वस्त्र रखकर शीत–ताप सहन करता, कभी–कभी अनशन करता और भी अत्यल्प भोजन से अपना निर्वाह करता। वह सोचा करता–ये सांसारिक लोग किस तरह भोगोपभोग की लालसाओं में फंसे हुए हैं। एक दिन लोगों को साधक की साधना की जानकारी हुई तो वे श्रद्धाभाव से जरी की–रेशम की मालाएँ लेकर वहाँ पहुंचे और साधक का सम्मान करने लगे। एक श्रद्धालु ऐसा था जो बहुत ही गरीब था।

वह कोई किमती माला नहीं जुटा सका। उसे तो अपनी श्रद्धा प्रकट करनी थी अतः कच्चे सूत की ही एक माला बनाकर वह भी साधक के पास पहुंच गया। उसने भी अपनी माला साधक को अर्पित करदी। साधक का उपशांत क्रोध यह देखकर भड़क उठा कि शोभनीय मालाओं के बीच यह कैसी अशोभनीय माला ?

अमृत–वचन निकालने वाला वह साधक तब अपने उपदेश प्रवाह में कहने लगा–कुछ लोगों में श्रद्धा नाममात्र को भी नहीं रहती। वे महात्माओं का अपमान करने चले आते हैं। ध्यान रखिये कि ऐसे लोगों को नरक में भी स्थान नहीं मिलता है। साधक का क्रोध फूट रहा था, उस गरीब श्रद्धालु पर, किन्तु वह तो अपनी श्रद्धा के अतिरेक में आनन्दित हो रहा था। इस प्रकार श्रद्धालु का हृदय तो श्रद्धा के दीपक से प्रदीप्त था किन्तु साधक का हृदय क्रोध की ज्वाला से जल रहा था। एक साधक की दीर्घकालीन साधना क्रोध की आग में पलभर में भस्म हो जाय, इससे अधिक क्रोध का घातक दुष्परिणाम और क्या हो सकता है ?

"गौतम कुलक" में कहा गया है–

"कोहाभिभूया न सुहं लहन्ति।"

अर्थात् क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी सुख नहीं पाते। इसका मुख्य कारण है कि क्रोध अग्नि की ज्वाला के समान होता है। जो भी इसके सामने आता है, उसको जला देने की चेष्टा करता है। सामने आने वाला भले ही इससे जले या न जले किन्तु क्रोध करने वाला तो इसमें बुरी तरह जलता और झुलसता ही है। क्रोधाग्नि एक प्रकार से स्व–पर–दाहक होती है। क्रोधी स्वयं भी जलता है तो अपने ताप से दूसरों को भी अनुतप्त बनाता है। उसका मन जलता है जो क्रिया–प्रतिक्रयाओं के उतार–चढ़ाव में न जाने कितना कलुष संचित करता रहता है। उसका तन जलता है–अपने समस्त अवयवों से शक्ति–हीन, रुग्ण और जर्जरित बनता जाता है। सर्वोपरि उसकी आत्मा के मूल सद्गुण धू–धू करजल जाते हैं और रह जाता है,

दुर्गुणों का अनियंत्रित समुदाय, जो आत्मशक्ति को सांसारिकता की दासी बना कर रख देता है।

क्रोध जब इस प्रकार की अनेकानेक विकृत वृत्तियों का जनक बन जाता है तो वह आत्मा को अपनी मुट्ठी में कैद कर लेता है, जिससे वह अपने मूल गुणों की रक्षा में अपनी शक्ति का प्रयोग करने में अक्षम बन जाय। वैसी अवस्था में आत्मा तेजोहीन, मन असन्तुलित तथा शरीर जीर्णशीर्ण बन जाता है। बुद्धि का स्रोत भी कुण्ठित हो जाता है जिसके कारण हिताहित अथवा कर्तव्याकर्तव्य सूझ नहीं पड़ता। थायराइड आदि अमृत वर्षी ग्रंथियों का कार्य भी अवरुद्ध हो जाता है। क्रोधाविष्ट व्यक्ति की विचारधारा स्वार्थपरायण बनकर नवीन स्फुरणाओं को ग्रहण करने में अयोग्य हो जाती है। शनैः–शनैः उसकी विचारधारा का प्रवाह ही विषाक्त बन जाता है। इस विषाक्तता से सर्वाधिक हानि आत्मा के मूलगुणों अर्थात् आन्तरिक सद्गुणों की ही होती है। किसी भी अतिशय क्रोधी व्यक्ति के जीवन में ऐसे सद्गुण विलुप्त से हो जाते हैं।

यह भी एक प्रकट तथ्य है कि क्रोधी अपने जीवन के सारभूत सद्गुणों को नष्ट करने के साथ अपने आसपास के वातावरण में भी जहर भरता है और अपने व्यवहार में आने वाले लोगों के दिलों में भी जहर की झाड़ियाँ उगाता है। उसका स्व–पर–दाहक स्वरूप तब सबके सामने भलीभांति उजागर हो जाता है। आत्मा के मूल गुणों की विलुप्ति के साथ उसके आचरण में कई अन्यान्य दुर्गुणों का समावेश भी हो जाता है। क्रोध के उत्पन्न दुर्गुणों का दुष्परिणाम रूप वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

1. परनिन्दा

क्रोधी व्यक्ति अपने चरित्र को देखना और समझना तो भूल जाता है परन्तु दूसरों की अधिकांशतः झूठी निन्दा करने में कुशल बन जाता है। उसके स्वभाव की यह विकृति उसे असामाजिक बना देती है।

2. दुःसाहस

क्रोध के अपने दुर्गुण को क्रोधी अपना बल मान लेता है, जिसके

कारण भद्र व्यक्ति उससे दूर रहते हैं। वह उन्हें अपने से भयभीत समझ लेता है। इस कुविचार के कारण क्रोधी व्यक्ति दुःसाहसी भी हो जाता है। वैसे दुःसाहस का वह कुफल भुगतता रहता है, लेकिन क्रोधावेश के कारण सचेत नहीं बनता है।

3. वैर

अपने क्रोध के कारण वह उन व्यक्तियों का भी वैरी हो जाता है, जो उसे अपनी सदाशयता के कारण क्रोध से विलग होने की सत्शिक्षा देने का प्रयास करते हैं।

4. जलन

क्रोध की अग्नि ईर्ष्या का रूप धारण करके भी जलाती है और उस जलन में क्रोधी अन्य किसी की उन्नति को भी फूटी आँखों भी नहीं देख पाता है।

5. दोष दर्शन

क्रोधी अकारण ही दूसरों की प्रवृत्तियों में मनःकल्पित दोष आरोपित करता है और अपने प्रति रही हुई दूसरों की सहानुभूति खोता रहता है।

6. दुष्ट ध्यान

दोषी हमेशा दूसरों का अहित चिन्तन करता है और तरह–तरह की विचारणाओं में क्रूर कल्पनाएँ करता रहता है।

7. कठोर वचन

मन की क्रूर विचारणाएँ वचन की कठोरता में प्रकट होकर सबका दिल दुःखाती है।

8. क्रूर व्यवहार

मन का दुष्ट ध्यान वचन की कठोरताओं के साथ व्यवहार की क्रूरता में फूटता है तो क्रोधी सबको अपना शत्रु बना लेता है।

वस्तुतः पागल हो जाता है क्रोधी

मनोवैज्ञानिक क्रोध को अस्थायी पागलपन कहते हैं। क्रोधी को पागल की उपमा इसी कारण दी जाती है कि वह अपनी उत्तेजना की अवस्था में वास्तव में पागल ही हो जाता है। क्योंकि वह सत्–असत् विवेक से विकल, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य की मीमांसा में मूढ़ एवं मर्यादाओं के अतिक्रमण में उदण्ड हो जाता है। उसके हृदय में प्रेम एवं स्नेह की धारा सूख जाती है, उदारता एवं सहिष्णुता की भावनाएँ समाप्त–प्राय : हो जाती है तथा सहानुभूति एवं सहयोग की प्रवृत्ति भी दब जाती है। वह तो दुष्ट भाव, कठोर वचन तथा क्रूर व्यवहार का स्वामी बनकर पागलों की श्रेणी में चला जाता है। वह अपने इसी पागलपन से अपने सम्बन्धियों, मित्रों एवं स्नेहियों को अपना शत्रु बना लेता है। उसका स्वयं का जीवन उसी के लिये भार स्वरूप बन जाता है। वह अपने गृहस्थ जीवन में भी तरह–तरह के संकटों से गिर जाता है। उसके दुर्व्यवहार से उसकी आय के स्रोत सूखने लगते हैं और गुहस्थोचित व्यवहार से भी वह सबकी ओर से वंचित हो जाता है।

क्रोध के दूरगामी परिणाम आत्मा को विविध कर्म बन्धनों से बांधते हैं, जिससे चौरासी लाख जीव योनियों में उसका भव–भ्रमण निरन्तर चलता रहता है। वह कई बार निकाचित कर्मों का फल भोगते समय अपने आपको असहाय–सा महसूस करता है कि जैसे – अब वह कर्मों की श्रृंखलाओं को तोड़ देने में अक्षम होता जा रहा है। विकारी वृत्तियों के जटिल जाल में फंसा हुआ होने के कारण किसी की सत्सहायता का भी वह लाभ नहीं उठा पाता। कभी भावना का हल्का–सा झौंका आता है और वह उस जाल को तोड़कर बाहर निकलने के लिये एक कदम उठा भी लेता है तो फिर आगे का कदम नहीं उठता और पुनः वह उसी जाल में फंस जाता है। जैसे गहरे कीचड़ में से हाथी का बाहर निकलना कठिन हो जाता है, वैसे ही विकारों के कीचड़ के से आत्मा सरलता पूर्वक बाहर नहीं निकल पाती है। कदाचित् किसी सत्संगति के फलस्वरूप भावना का प्रबल झौंका आ जाता है तो ही वह उसे विचारों के कीचड़ से बाहर निकाल पाता है।

क्रोधी का पागलपन भी थर्मामीटर के पारे की तरह ऊपर–नीचे होता रहता है। क्रोध की तीव्रता एवं मन्दता के परिणामस्वरूप ही कर्म–बंध की अवधि भी घटती और बढ़ती रहती है। उसका अनुभाग भी शून्य या तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम होता रहता है। क्रोध–विष का प्रभाव अंगों के संक्षय रूप में परिलक्षित होता है क़िन्तु उससे मुख्यतः आत्मगुणों का ही संक्षय (दबाना) होता है। ऐसी अवस्था में जीवन की दशा दयनीय बन जाती है। आत्महीनता से उसका मस्तिष्क कुंठाग्रस्त हो जाता है और तरह–तरह के तनावों से भर जाता है। ऐसे क्रोधी के लिये शारीरिक कष्टों की तो सीमा ही नहीं रहती हैं। वह इहलोक में दुःखी होता है और परलोक को भी दुःखी बनाता है। उसका समूचा आत्मस्वरूप एवं जीवन क्षति–विक्षतियों से आकीर्ण और कटुतामय एवं कलुषितता से मलिन बन जाता है। क्रोध रूपी महाचाण्डाल को मन में बसा लेने पर क्रोधी स्वयं महाचाण्डाल हो जाता है।

विष-तरंगों का प्रवाह

क्रोध रूपी विष की तरंगें, जब किसी व्यक्ति की आत्मा, तन और मन में प्रवाहित होने लगती है तो वह सभी ओर से अपने जीवन–विकास की संभावनाओं को गंवा देता है। अपनी आत्मा के मूल गुणों को वह दबा देता है और अपने विवेक को शून्य बिन्दु तक पहुंचाकर संज्ञाहीन–सा बन जाता है। इस संज्ञाहीनता का तब उसके जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है, जब उसका शूक्ष्म नाड़ी तंत्र भी क्षत–विक्षत हो जाता है।

विष–तरंगों के प्रभाव में बहता हुआ क्रोधी मनुष्य इस तथ्य का चिंतन नहीं कर पाता है कि वह अपने क्रोधावेग के कारण वर्तमान जीवन में भी कैसी–कैसी हानियों का शिकार बन रहा है। वह यह भी नहीं जान पाता कि उसके शरीर के महत्त्वपूर्ण सारयुक्त तत्त्व नष्ट हो रहे हैं और मस्तिष्क का शूक्ष्म नाड़ीतंत्र भी आघातों से जर्जर बन रहा है। उसकी चिंतन क्षमता का भी ह्रास होता चला जाता है। एक क्रोधी व्यक्ति अपनी विवेक शून्यता से जीवन का संतुलन बिगाड़ लेता है तो अपने शरीर को "ब्रेन–हेमरेज", रक्तचाप, लकवा आदि भयंकर

रोगों के आक्रमण के लिये खुला छोड़ देता है।

रक्तचाप जैसे रोग अधिकांशतः क्रोधी व्यक्तियों को होते हैं। भादसोड़ा (मेवाड़) की सत्य घटना है। मंदिर की एक शिला को लेकर दो भाइयों के बीच उग्र विवाद हो गया। फलतः क्रोधावेश की अधिकता के कारण एक भाई को ब्रेन हेमरेज हो गया और वह मृत्यु–मुख में चला गया। इंग्लैण्ड की एक घटना है। घुड़दौड़ की प्रतियोगिता चल रही थी। उसमें एक घुड़सवार को पक्की उम्मीद थी कि वही जीतेगा। किन्तु वह उस समय क्रोधावेग से कांपने लगा जब उसका प्रतिपक्षी जीत गया। वह भीतर ही भीतर क्रोध से घुटता हुआ अपने घर पहुंचा। उसकी पत्नी उसके स्वभाव को पहचानती थी। जैसे ही उसने अपने पति का वह रौद्र रूप देखा, तुरंत उसने डाइनिंग टेबल को उसकी पसंद के विविध व्यजंनों से सजा दी, जिससे वह खाने में जुट कर अपने गुस्से को भूल जाय। किन्तु उस रोज उसके मस्तिष्क में क्रोध की विष तरंगों का प्रवाह संघातिक रूप से बह रहा था। उसने वह क्रोध अपनी पत्नी पर घातक रूप से निकालना चाहा। नाजुक स्थिति देखकर पत्नी ने उसे कमरे में बन्द कर दिया तो उसने अपना गुस्सा अपने पर ही निकालना शुरू कर दिया और वह बुरी तरह घायल हो गया।

क्रोध की विष तरंगों से ग्रस्त व्यक्ति न अपने घर में अपना रहता है अैार न हीअपने धंधे या पेशे को लाभ व लोकप्रियता के साथ चला सकता है। वर्तमान जीवन से सम्बन्धित क्रोध की हानियों का दृश्य देखने चलें तो स्थान–स्थान पर ऐसे दृश्य देखने को मिल सकते हैं। इन विष तरंगों के प्रबल प्रवाह के क्षणों में यदि आगामी जन्म की आयु का बन्ध होने का अवसर आ जाए तो क्रोधी व्यक्ति सर्प अथवा वैसी ही क्रोधप्रधान किसी अन्य योनि में जन्म लेता है और पूर्वजन्म के कुसंस्कारों से ग्रस्त रहता है।

अनेक असहिष्णुताओं का जनक-क्रोध

समीक्षण दृष्टि से जब अवलोकन किया जायेगा तो स्पष्टतः

देखा जा सकेगा कि स्थान–स्थान और समय–समय पर क्रोध के कारण कई प्रकार की असहिष्णुता का जन्म होता है और उसके प्रभाव से परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में भांति–भांति के टकराव और संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं। सहिष्णुता को आत्मा का एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण माना गया है। सहिष्णुता के आश्रय से ही अन्य कई सद्गुण इस जीवन में प्रकट होकर पल्लवित एवं पुष्पित होते हैं। ऐसे महान् सद्गुण सहिष्णुता पर ही क्रोध का सबसे कठोर आक्रमण होता है। जिसके फलस्वरूप सद्गुण नष्ट होते चले जाते हैं और दुर्गुण पनपने लगते हैं। क्रोध इस रूप में दुर्गुणों का सर्जक तथा सहिष्णुता व उसके सहयोगी सदृगुणों का विध्वसंक सिद्ध होता है।

जब सहिष्णुता जाती है तो क्षमा गुण का भी लोप होने लगता है। मुनि जीवन का प्रथम धर्म ही क्षमा माना गया है। क्योंकि इसी गुण के बल पर मुनि इन्द्रिय विषयों से सम्बन्धित विकारों तथा मन की चंचल दौड़ों पर नियंत्रण रखने में समर्थ होता है। क्षमा को रीढ़ की हड्डी के समान आधारभूत गुण माना गया है और यदि मुनि क्रोध के वश में हो जाये तो वह अपने आधार को ही खो देने की स्थिति में पहुंच जाता है। सहिष्णुता और क्षमा एक ही धरातल पर पनपने वाले सद्गुण हैं। क्रोध का आवेग उन्हें समान रुप से क्षतिग्रस्त बना देता है।

क्रोध से उत्पन्न होने वाली प्रमुख असहिष्णुताएँ निम्न हो सकती हैं :–

1. मानसिक असहिष्णुता

मनोवर्गणा से निमित्त द्रव्य मन जब भाव मन आधारशिला पर दृढ़ से दृढ़तर बनता हुआ कार्यरत होता है तभी वह सफलता प्राप्त करता है। मन की भूमि पर ही संप्रेषण, संग्रहक आदि शक्तियाँ उर्वरित होती हैं, जिनके अत्युच्चय विकास की दशा में भीतर के अवस्थानों तक पहुँच पाने में सुगमता हो जाती है। तब भीतर से फैला हुआ मानस तंत्र सदा सक्रिय बना रहता है। इसी प्रकार निरन्तर अन्तर्यात्रा में व्यक्ति आगे बढ़ता रहे तो प्राण शक्ति की वृद्धि के साथ द्रव्य मन की

क्षमता भी अभिवृद्ध बन जाती है जिसके बल पर आन्तरिक अवस्थानों तक पहुँच पाने की शक्ति का अर्जन और सर्जन पर्याप्त मात्रा में होता है। किन्तु ऐसी मानसिक सुव्यवस्था पर क्रोध का ऐसा मारक प्रहार होता है कि समूचा तंत्र छिन्न–भिन्न हो जाता है। क्रोध के बार–बार के प्रहारों से तो द्रव्यमन की सामान्य क्षमता भी नष्ट होने लग जाती है। सारा तन्त्र शिथिल सा हो जाता है और विवेक शून्यता के साथ मानसिक तनाव तथा चिड़चिड़ापन बढ़ने लगता है। इससे जीवन में विशेष प्रकार की दुर्बलता प्राप्त हो जाती है।

मानसिक असहिष्णुता से व्यक्ति स्वयं की ऊर्जा का भी सदुपयोग नहीं कर पाता है। परिणाम इस रूप में सामने आते हैं कि वैसा व्यक्ति अपने आप से असन्तुष्ट, हतोत्साह तथा अकर्मण्य होता चला जाता है। उसकी मिथ्या अहंकारवृत्ति इतनी उभर आती है कि जरा–सी भी प्रतिकूल बात सुनकर वह क्रोध से तमतमा जाता है और अनुकूल बात में भावातिरेक से स्वयं को भूल जाता है। वह अकरणीय को पहले कर तो लेता है लेकिन फिर पश्चाताप की भट्टी में झुलसने लगता है। क्रोधावेग में दूसरों के प्रति अभद्रता एवं अशिष्टता का व्यवहार करके अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारता रहता है। क्योंकि वह हर वक्त अपनी ही मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त बना रहता है। इस ग्रस्तता से वह अपना अहित करता है, परिवार के साथ शांति से नहीं रह पाता है तो समाज में भी दुर्व्यवस्था लाने का माध्यम बनता है। वह इस प्रकार समाज विरोधी बनकर छल, कपट, धूर्तता आदि अनेकानेक दुर्गुणों को अपनाता हुआ आत्म–विरोधी बन जाता है। उसके ऐसे दुर्गुण चारों ओर फैलते हुए नगर, ग्राम एवं राष्ट्र को भी कलुषित बनाते हैं।

कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति की मानसिक असहिष्णुता सारे विश्व को महाविनाशकारी युद्ध में झौंक देती है। वर्तमान परिस्थितियों में तो वह खतरा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। यदि किसी शक्तिशाली राष्ट्र का नायक मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त होकर अपना संतुलन खो दे और परमाणु शस्त्रों

का ताण्डव शुरु कर दे तो क्या सारा विश्व जल नहीं उठेगा ?

मानसिक असहिष्णुता से जब नैतिकता भी नष्ट हो जाती है तो अध्यात्म मार्ग के श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म के विकास की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है।

2. वैचारिक असहिष्णुता

विचारों के सृजन का केन्द्र मस्तिष्क है। लेश्याओं से अभिरंजित चित्तवृत्तियाँ इसी केन्द्रस्थल से संयुक्त होती हैं। तब चित्त–वृत्तियों की विभिन्नताओं में से एक जातीयता का स्वरूप बनता है। उसमें जब तुलनात्मक अवस्था से चित्त–वृत्तियों का उतार–चढ़ाव होने लगता है तब विचार प्रवाह की सरिता बहने लगती है। उस सरिता का प्रवाहिक मुख्य रूप से विचार केन्द्र बनता है। उस केन्द्र के साथ ज्ञान वाहक नाड़ी–समूह जुड़कर कार्यरत होने लगता है तथा विचारों के परस्पर प्रतिपक्षी स्वरूप के संकल्प–विकल्पात्मक बलाबल का निर्माण होता है। उस अवस्था में मनुष्य के विचार केन्द्र ज्ञानवाहक नाड़ियों से विचारों को वहन करने में सक्रिय हो जाते हैं, तब दोनों के बीच एक निर्णायक शक्ति का विकास भी होता है, जो केन्द्र–कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने में सफल होती है। तदनन्तर निर्णीत विचार प्रवाह यथायोग्य "ग्लेण्ड्स" को प्रभावित करता है। फिर अगली रासायनिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से मन आदि तंत्रों में व्यवहृत होता हुआ वचन के माध्यम से निर्णीत विचार–प्रवाह प्रकट होता है। उस बाहर आये विचार प्रवाह को श्रोतागण हिताहित की कसौटी पर कस कर तुलनात्मक दृष्टि से परखते हैं और उसे व्यापक कल्याण की भावना से तोलते हैं।

उस निर्णीत विचार प्रवाह की बाहर जो प्रतिक्रिया होती है वह पुनः श्रोतेन्द्रिय आदि के माध्यम से विचार प्रणेता के मस्तिष्क में प्रवेश करती है, तब वह मस्तिष्क के विचार केन्द्र को आन्दोलित बनाती है। उस समय मस्तिष्क में कार्यरत विचार केन्द्र एवं उसका सहयोगी नाड़ी–तंत्र यदि सक्षम और संतुलित रहे तो वे उस प्रतिक्रिया का

समीचीन समाधान अपने नये निर्णय के रूप में निर्मित कर सकते हैं। किन्तु ऐसे समय में यदि क्रोध का आक्रमण हो जाये और वह घातक सिद्ध हो तो विचार केन्द्र तथा नाड़ी केन्द्र का संतुलन टूट जाता है, तथा क्षमता मन्द हो जाती है और समीचीन समाधान सामने नहीं आ पाता। तब वैसा व्यक्ति अपने पहले के विचार को ही पूर्ण उचित कहने लगता है और आलोचना सुनना बन्द कर देता है। इस रूप में वैचारिक असहिष्णुता जन्म लेकर व्यक्ति के जीवन में पुष्ट रूप लेने लगती है।

वैचारिक असहिष्णुता विचारों के स्वस्थ विकास को अवरुद्ध कर देती है और विचारों में "हठवाद" को ऊपर ले आती है। वह असहिष्णुता इस रूप में स्व–पर जीवन के लिए अहितकर और अलाभप्रद बन जाती है। यह वर्तमान एवं भावी जीवन के दुःखों का हेतु भी बन जाती है।

3. परगुण असहिष्णुता

गुण शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। मुख्यतया किसी द्रव्य का वह अंश, जो उस द्रव्य में त्रिकाल स्थायी होकर रहता है और उस द्रव्य की विशिष्टता बतलाता है, गुण शब्द से कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टि से संक्षेप में दो तत्त्वों में समग्र वस्तुओं का समावेश हो जाता है। वीतराग के सिद्धान्तानुसार ये दो तत्त्व हैं– चेतन और जड़। वेदान्त दर्शन में इन्हें ही ब्रह्म और माया के नाम से पुकारा गया है। सांख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के रूप में इन दो तत्त्वों का आख्यान करता है। प्रायः अन्य दर्शनों में भी नामों के परिवर्तन के साथ इन दो तत्त्वों का निरुपण किया गया है।

इनमें से जड़ तत्त्व के मौलिक गुण–वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बताये गये हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि चेतन तत्त्व के मौलिक गुण कहे गये हैं। यथा–

णाणं च दसंण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।

– उत्तरा. 28/11

तदनुसार आत्मिक गुणों के दो वर्ग किये गये हैं। एक वर्ग में स्वाभाविक गुणों का समावेश किया गया है तो दूसरे वर्ग में वैभाविक गुणों का। स्वाभाविक गुण निसर्गतः ही होते हैं, जबकि वैभाविक गुण कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणों की ही विकृति है। आत्मा की अयथार्थ दृष्टि के कारण वैभाविक गुणों को बल मिलता है। ये वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणों को ओझल करने वाले होते हैं। इन्हीं वैभाविक गुणों में रस लेने वाला पुरुष अन्य व्यक्तियों के गुणों से असन्तुष्ट रहता है। वह यही सोचता है कि अन्य व्यक्ति मेरे समान गुणों से सम्पन्न न बनें। वह कदाचित किसी को गुणों में उन्नति करते हुए देखता है तो उसके मन में एक आन्तरिक व्यथा उत्पन्न होती है। वह उस उन्नति में अवरोध डालने की बात सोचने लगता है। तदनुसार वह अपनी शक्ति को दूसरे के गुणों को लांछित करने अथवा उनकी उन्नति को रोकने की चेष्टा करता है। इस दशा में वह अपने प्रयत्नों को तेज करता रहता है। ऐसे पुरुष पर–गुण असहिष्णु कहलाते हैं।

ऐसे पर–गुण असहिष्णु पुरुष दूसरों के गुणों को लांछित करने या अवगुणों के रूप में प्रकट करने में अपनी जो शक्ति लगाते हैं, उससे दूसरों के गुणों का कुछ बिगड़े या न बिगड़े, परन्तु वे स्व–गुणों को तो छिन्न–भिन्न कर ही डालते हैं। पर–गुण असहिष्णुता के कारण उनके अपने गुणों का ह्रास होता चला जाता है।

असहिष्णुता स्वयं एक बहुत बड़ा दुर्गुण है और उसमें भी पर–गुणों के प्रति असहिष्णु होना पर के साथ–साथ स्व–गुणों का भी घातक होता है। यह ऐसी वृत्ति है, जिसका कुप्रभाव उभयमुखी होता है। जिसकी वृत्ति पर–गुणों को सहन करने की नहीं होती है, वह स्वयं के गुणों को सहन करने अर्थात् पचाने में असमर्थ हो जाता है। ऐसा पुरुष यदि अपने में किसी भी रूप में किसी गुण का विकास देखता है तो उसे उन्हें बाहर प्रदर्शित करने की बड़ी उत्सुकता रहती है।

स्व–गुणों को प्रदर्शित करने की लालसा उसमें एक प्रकार की रिक्तता पैदा कर देती है। जिन स्व–गुणों को प्रदर्शन वह दूसरों के

सामने करता रहता है, वे वस्तुतः गुणान्तर से बाहर आ जाते हैं और उन गुणों के स्थान पर दंभ एवं अहंका कृपा–भाजन बन जाता है। इसी कारण किसी भी सच्चे साधक को गुण प्रदर्शन के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। क्योंकि इससे दांभिक वृत्ति पनपती है। वस्तु स्वरूप के कथन में भी कृत्रिमता न आये, इसके लिए उसे सतर्क रहना चाहिये।

इस प्रकार की सतर्कता तभी रह पाती है, जब साधक स्वगुणों को पचाने की क्षमता अर्जित कर लेता है। ऐसा साधक स्व–गुणों को विकसित करने के साथ–साथ भीतर रहे दुर्गुणों को त्यागने का यत्न भी करता है। वह आत्म–दृष्टा बन कर समीक्षण ध्यान से अन्तरावलोकन करता है तथा भीतर रहे हुए सद्गुणों व दुर्गुणों को चित्रवत् देखता है। यह देखकर ही वह संकल्पपूर्वक दुर्गुणों को बाहर निकालने तथा उनके स्थान पर सद्गुणों को प्रतिष्ठित करने का पुरुषार्थ करता है। इस वत्ति के साथ वह पर–गुणों की सराहना भी करता है तो उन्हें भी अपने जीवन में अपनाने का प्रयत्न करता है। वह गुण–प्रशंसक होता है तथा जहाँ भी गुण दिखाई दे उनका सम्मान करता है एवं उन गुणों को भी आत्मसात करने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को गुणालंकृत बनाता रहता है। इस तरह गुण–सहिष्णुता जीवन–विकास की सहायिका होती है।

4. उन्नति सम्बन्धी असहिष्णुता

अपने स्वाभाविक गुणों–सद्गुणों का उत्तरोत्तर विकास करना वास्तविक उन्नति है। सामान्यतया उन्नति का इच्छुक व्यक्ति निज की उन्नति करना चाहता है। वह तदनुरूप प्रयत्नरत भी होता है किन्तु उन्नति रूप कार्य के कारणों का यदि उसे विज्ञान न हो तो वह उन्नति नहीं कर पाता। यही नहीं कभी–कभी वह अवनति की ओर भी गिरने लगता है। अतः उन्नति चाहने वाले पुरुषों को उन्नति के हेतुओं का विज्ञान करना नितान्त आवश्यक है।

उन्नति की अभिलाषा या संकल्प या अंकुर अन्तःकरण में

प्रस्फुटित होता है। स्वयं की अन्तर्चेतना में जिस रूप में भी उन्नति की कामना अभिव्यक्त होती है, उस अभिव्यक्ति को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने के लिए निरन्तर उसके अनुरूप विचारों का प्रवाह बनाना चाहिए। ऐसा विचार प्रवाह ही उस अंकुर को अभिवृद्ध करके फलवान बनाता है।

उन्नति एवं तदनुरूप विचार जब अन्तःकरण में दृढ़ीभूत होते हैं, तब तदनुरूप उच्चार का प्रसंग उपस्थित होता है। वाणी के माध्यम से उन्नति के अनुरूप विचारों का बाह्य वायुमंडल बनना प्रारंभ होता है। उन्नति का आचार शारीरिक परिधि में व्याप्त हो जाता है। व्यक्ति–आचार–संहिता वैसी दशा में उन्नति के अनुरूप जीवन का अंग बन जाती है और अन्य अनेक व्यक्तियों को भी सहभागी बना लेती है। ऐसी स्थिति में अन्य व्यक्तियों की उन्नति में स्वयं की उन्नति तथा स्वयं की उन्नति में पर की उन्नति के दर्शन होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त उन्नति सम्बन्धी प्रभावकारी वायुमंडल के बनते रहने से अवनति की परिस्थितियों का ह्रास होने लगता है, तब उन्नति की जड़ें अधिकाधिक मजबूत बनती जाती है।

जहाँ उन्नति का मूल मजबूत हो जाता है, वहाँ उन्नति के पौधों के पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होने में देरी नहीं लगती। अतएव किसी भी प्रकार की उन्नति करने के इच्छुक पुरुष को सबसे पहले उन्नति को स्वयं के भीतर समा लेने की क्षमता पैदा कर लेनी चाहिए। साथ ही वह तत्संबंधी हेय, ज्ञेय एवं उपादेय के विज्ञान को सम्यक् रीति से सम्पादित कर अभिष्ट उन्नति के लिये संलग्न हो जाए। उसे अपनी आन्तरिक वृत्तियों का सांगोपांग निरीक्षण एवं परीक्षण भी करते रहना चाहिये, ताकि उसके मन में उन्नति सम्बंधी असहिष्णुता अंकुरित न होने पाए।

5. वाणी सम्बन्धी असहिष्णुता

वाणी (वचन) कल्पलता के तुल्य कही जा सकती है। किन्तु वाणी के विशिष्ट महत्त्व को समझने की आवश्यकता है। जिह्वा मिली

है तो बोलना ही इसका काम है, ऐसा सोचना योग्य नहीं है। जिह्वा वाणी का माध्यम है अतः इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। कहा है कि वचन–वचन में बहुत अन्तर होता है। एक वचन औषध का काम करता है तो दूसरा वचन किसी के दिल पर गहरा घाव लगाकर घातक भी हो सकता है। वचन प्रीतिकारक भी होता है तो अप्रीतिकारक एवं कटु भी। एक वाणी मनुष्य के अन्तःकरण में शस्त्र का काम करती है तो दूसरी वाणी मर्हम का भी काम करती है। एक शब्द क्लेश का सर्जक बनता है तो दूसरा शब्द प्रशमता का वायुमंडल निर्मित कर देता है। एक वचन स्वर्ग की भूमिका तैयार करता है तो दूसरा नरकागार की शय्या तैयार कर देता है। एक वचन दुर्गति का हेतु बनता है तो दूसरा सद्गति का नियामक हो जाता है। एक वचन आत्मशुद्धि का जनक होता है तो दूसरा आत्मा को मलिन बनाने का काम करता है। इसी वाणी के प्रयोग से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं तो मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। एक वाणी प्रवाह ऐसा चलता है कि आत्मा संसार–समुद्र में गोते लगाती ही रहती है तो दूसरा प्रवाह ऐसा बहता है कि आत्मा मोक्ष के परमानन्द में तन्मय बन जाती है। द्रौपदी के एक वचन में महाविनाशकारी महाभारत की भूमिका तैयार कर दी थी तो भगवान् महावीर के वचन ने चंडकौशिक जैसे घोर विषधर की आत्मा को सन्मार्ग पर ला दिया था। इसलिये वाणी के रूप, वाणी की विधि तथा वाणी के प्रयोग के सम्बन्ध में परिपक्व विज्ञान एवं सदाशयी विवेक की नितान्त आवश्यकता है।

समीक्षण दृष्टि से वचन संबन्धी सम्यक् विज्ञान होने पर ही वाचिक सिद्धि की समुपलब्धि संभव होती है। प्रत्येक साधक को वचन शुद्धि का यह विज्ञान वीतराग वाणी से प्राप्त करना चाहिये। वीतराग देवों ने वचन शुद्धि के लिये बहुत ही शूक्ष्मता से उपदेश दिया है। सत्य होने पर भी वाणी की कटुता उस अप्रिय व असत्य बना देती है। एक आँख वाले व्यक्ति को सत्य होने पर भी अगर "काना" कहकर पुकारे तो क्या वह कथन प्रिय महसूस होगा? किसी दोष को प्रियकारी वाणी के माध्यम से भी बताया जा सकता है। अंधे को अंधा कहने

वाला अंधे के दिल को तोड़ देता है। उसी अंधे को यदि प्रज्ञाचक्षु कहकर पुकारे तो क्या ये शब्द उसे प्रिय नहीं लगेंगे ? कहने का आशय यह है कि वाचिक शक्ति के सत्प्रयोग के लिये वाचिक सहिष्णुता का होना जरूरी है। यह वाचिक सहिष्णुता तभी उपजती है जब मन के प्रतिकूल होने पर भी दूसरों के वाचिक प्रयोग को सहन करने की शक्ति उपार्जित की जाय।

वाचिक असहिष्णुता कटुता एवं क्लेश का वातावरण बना देती है। इस असहिष्णुता को त्यागने के लिए मनुष्य को तटस्थ भाव अपनाना होगा। कोई उसे कुछ भी कहे, वह उसके विरुद्ध विषम वाणी का प्रयोग न करे। अपितु ऐसी समतामय वाणी का प्रयोग करे कि विषम वाणी का उच्चारण करने वाला भी समता–विभोर बन जाये। ऐसी वाचिक असहिष्णुता से वाचिक लब्धि की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप उसकी वाणी नपी–तुली, संयमित, संतुलित तथा समता भाव से पवित्र बन जाती है।

6. शारीरिक असहिष्णुता

शारीरिक सामर्थ्य भी प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गंभीरता से चिंतन किया जाय तो सभी प्रकार की शक्तियों की आधारशीला शारीरिक शक्ति है। शारीरिक अवस्थान में सहनशक्ति अर्जित करने की नितान्त आवश्यकता रहती है। इस शक्ति के अभाव में शरीर के माध्यम से सभिष्ट कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती है। किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पादित करने के लिये शरीर प्रयोग अवश्यम्भावी है। वीतराग देव का कथन है कि सर्वोच्च सिद्धि–मुक्ति वही प्राप्त करता है, जिसे वज्रऋषभ नाराच संहनन प्राप्त होता है। शरीर जब अनुकूल–प्रतिकूल संस्पर्श को समभाव से संवेदन करने में समर्थ होता है, तभी उस शरीर से किया जाने वाला कार्य व्यवस्थित रूप से सम्पन्न हो सकता है। इसके अभाव में कदाचित् भगवान का नाम स्मरण करने में भी बाधा पैदा हो ाकती है। साधक तो चाहता है कि तन्मयता के साथ प्रभुस्मरण में तन–मन लगा दूँ,

किन्तु इधर वह स्मरण करने के लिए बैठता है और उधर मच्छर डंक मार देता है या गर्म हवा का झौंका बहने लगता है तो वह स्मरण से चलायमान हो जाता है तो यह उसकी शारीरिंक असहिष्णुता कहलायेगी। वह प्रतिकूल संस्पर्श को सहन नहीं कर सका, इससे उसके कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती।

शारीरिक असहिष्णुता के अभाव में कोई भी कार्य, चाहे वह धार्मिक हो या संसारिक्, भलीभांति सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि असहिष्णु व्यक्ति कार्य के बीच में ही झुंझलाने लगेगा और अपने तन–मन का संतुलन बिगाड़ बैठेगा। साधारण से साधारण कार्य में भी शारीरिक सहिष्णुता एवं शारीरिक सामर्थ्य का योगदान अनिवार्य है। फिर आध्यात्मिक साधना में शारीरिक क्षमता की क़ितनी अधिक आवश्यकता होती है इसे भलीभांति समझा जा सकता है। कहा गया है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" यह भी एक कारण है कि उत्कृष्ट आध्यात्मिक साधना के लिए उत्कृष्ट सामर्थ्य वाले शरीर की अपेक्षा रहती है। इसी कारण उत्कृष्ट शारीरिक बल की अवस्था में भी मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख शास्त्रों में हुआ है।

आत्मा से कर्मों को विलग करने के लिए उच्च कोटि की ध्यान साधना अपेक्षित है। उस ध्यान साधना में यद्यपि मन का पूरा प्रावधान है तथापि मन शारीरिक सामर्थ्य के साथ सम्बन्धित होता है। शरीर मन के लिये ढ़ाल और कवच का काम करता है। युद्ध में प्रवृत्त योद्धा युद्ध करने में कितना ही कुशल क्यों न हो, वह प्रतिपक्षी की ओर से आने वाले शस्त्र प्रहार से अपने शरीर को बचाने के लिये ढाल और कवच अवश्य रखता है और तभी वह युद्ध क्षेत्र में सफलजा पूर्वक आगे बढता रहता है। ढाल और कवच की सुरक्षा भी बड़ी मजबूत होती है। अतः मन रूपी योद्धा के लिये शरीर रूपी ढाल व कवच सुदृढ़ होना चाहिये। ऐसी अवस्था में मन की ध्यान साधना निरबाध और सफल हो सकेगी।

शरीर का ऐसा सामर्थ्य शरीर सम्बंधी विविध प्रक्रियाओं से प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार की होनी चाहिए, जिनसे

शरीर के अवयवों को परिश्रम की अवस्था में रखा जा सके। इस प्रकार शारीरिक अवयव पुष्ट होने के साथ–साथ आने वाले आघातों को सहन करने में सहिष्णुता प्राप्त की जा सकेगी। इस हेतु दैनिक कार्यों में अवयवों को सम्यक् प्रकार से नियोजित किया जा सकेगा। इन प्रक्रियाओं में यौगिक क्रियाएँ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। इन के माध्यम से एकावधानता की शक्ति भी बढ़ सकेगी। ऐसा साधक साहजिक योग की साधना के माध्यम से ध्यान साधना में अधिक अग्रसर बन सकता है।

शरीर के अवयवों की असहिष्णुता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। क्रोध उनकी असहिष्णुता को बढाता रहता है, जिस पर समीक्षण भाव से नियंत्रण स्थापित किया जाना चाहिये। यदि कर्णेन्द्रिय में अप्रिय शब्दों का प्रवेश हो तो उस समय वैसी सहिष्णुता अपेक्षित है। उसमें द्वेष की अभिव्यक्ति रूप असहिष्णुता नहीं आनी चाहिये। अनुकूल शब्द श्रवण कर राग की अभिव्यक्ति भी असहिष्णुता की द्योतक है। यही चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों की असहिष्णुता के सम्बन्ध में समझना चाहिए। वस्तुतः शब्द, शब्द है, रूप, रूप ही है, वह अपने आप में न प्रिय होता है न अप्रिय, मनोज्ञता–अमनोज्ञता उसका स्वभाव नहीं है। श्रोत्र शब्द को श्रवण करता है और मन उस पर प्रियता–अप्रियता, मनोज्ञता–अमनोज्ञता का रंग चढा देता है। इस रंग की बदौलत आत्मा में राग–द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। यदि शब्द को शब्द और रूप को रूप ही माना जाय और उस पर मनोज्ञता–अमनोज्ञता का रंग न चढ़ने दिया जाय तो साधक की समभावना एवं सहिष्णुता खंडित नहीं होगी। इस हेतु समभाव की सर्जना का अभ्यास किया जाना चाहिये, जिनसे अवयवों की परिपुष्टी एवं सहिष्णुता सम्बन्धी क्षमता अर्जित हो सकेगी।

शरीर के अवयव सहिष्णु रहे तो अवयवी शरीर तो नितान्त असहिष्णु रहेगा ही। ऐसी कायिक असहिष्णुता समीक्षण योग की साधना में बाधक बनेगी। अतः समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर्यात्रा का आनन्द लेना चाहें तो कायिक सहिष्णुता परिपुष्ट रूप से अर्जित की

जानी चाहिये।

क्रोध-त्याग से सहिष्णुता का विकास

मानव जीवन सरिता के प्रवाह के समान निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। दोनों में उतार–चढ़ाव आना सहज–स्वाभाविक है। कभी नदी का प्रवाह बाढ़ का रूप लेकर तट को छोड़कर भी प्रसरित हो जाता है, कभी ऐसी स्थिति भी बन जाती है कि प्रवाह अत्यल्प हो जाता है। किसी स्थल पर ऊपर से तो नदी सूखी जैसी दिखाई देती है किन्तु जल–प्रवाह भूमिगत होकर बहता रहता है। मानव जीवन के प्रवाह की भी ऐसी ही विविध अवस्थाएँ चलती रहती हैं।

क्रोध जीवन में जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की असहिष्णुताओं को जन्म देता है, उसी प्रकार यदि समीक्षण दृष्टि से क्रोध का त्याग कर दिया जाय अथवा उपयोग पूर्वक उसे घटाया जाय तो कई प्रकार की सहिष्णुताओं का विकास भी किया जा सकता है। यहाँ ऐसी कुछ सहिष्णुताओं का विश्लेषण किया जा रहा है–

1. उन्नति-अवनति सहिष्णुता

कई व्यक्ति सूखी नदी को देखकर तिरस्कारपूर्ण कथन कर सकते हैं कि इसमें क्या धरा है ? किन्तु क्या उस अवनति सम्बंधी तिरस्कार को सुनकर भी नदी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता को छोड़ देती है ? नहीं ! मानव जीवन रूपी सरिता भी कई प्रकार के प्रवाहों के साथ बहती है। कभी ज्ञान प्रवाह को प्रबल बनाने की उत्सुकता के साथ प्रयास किया जाता है तो भावोर्मियां उमड़ कर सामर्थ्य–तट को लांघ जाना चाहती है। कभी मध्यम धारा से ज्ञानार्जन होता है तो कभी ऐसा अनुभव होता है कि जैसे ज्ञान–प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। किसी समय अज्ञानरूप शुष्कता का आभाष भी होता है। वास्तव में ऐसा होता नहीं है, क्योंकि भीतर में न्यूनाधिक रूप में ज्ञान प्रवाह तो रहता ही है। किन्तु बाह्यदृष्टि वाले इस तथ्य को न जानने के कारण अवहेलना स्वरूप शब्द का प्रयोग कर देते हैं कि यह मुर्खाधिराज है, जड़मति है या ज्ञानहीन है। इस अवनति सूचक व्यवहार से वह व्यक्ति विचलित

नहीं होता जिसने उन्नति–अवनति संबन्धी सहिष्णुता को हृदयंगम कर लिया है। यह तभी बन सकता है, जब दूसरों की ऐसी वृत्ति देखकर उसको तिरस्कृत करने के लिए अनुचित शब्दों का प्रयोग न करें। शब्द प्रयोग ही नहीं, अपितु मन में भी उसके लिये गलत चिंतन न लावें। समभाव के साथ उसका यथायोग्य समादर करते हुए चिंतन करें कि यह उतार–चढ़ाव की अवस्था कर्मोदय एवं वातावरण के प्रभाव से बनती तथा बदलती रहती है। ऐसे चिंतन से सहिष्णुता का विकास होता है।

समीक्षण ध्यान की भूमिका पर साधक इसी रूप में श्रद्धान तथा आचरण के विषय में भी चिंतन करने की आवश्यकता है। यह तो आंतरिक समृद्धि सम्बंधी प्रवाहों की बात है जो कि मुख्यतया पूर्ण साधकों को संस्पर्शित करती है। किन्तु आंशिक साधकों के लिये आंतरिक समृद्धि के साथ–साथ बाह्य भौतिक समृद्धि का भी सम्बन्ध जुड़ता है। इसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक आदि अवस्थाओं का समावेश होता है। इस प्रकार की बाह्य भौतिक समृद्धि स्वरूप प्रवाह में उतार–चढ़ाव के प्रसंगों पर अवनति की अवस्था को देखकर भी जो कभी असहिष्णु नहीं बनता और न दूसरों की अवनति को देखकर उनका अवमूल्यन करता है, वैसा आंशिक साधक भी अवनति–सहिष्णुता को यथाशक्ति प्राप्त कर उस अनुपात से समीक्षण ध्यान की भूमिका का वरण कर सकता है।

2. उत्कर्ष–अपकर्ष सहिष्णुता

मानवीय जीवन की गरिमा विविध प्रकार से प्रस्फुटित होती है। शारीरिक सम्बन्ध से, अंग–प्रत्यंगों की उत्कर्षता कभी–कभी उससे उच्चस्तरीय सीमा को छू लेती है, जिससे अन्य जनों की दृष्टि में वह शरीर दिव्य एवं आकर्षक लगने लगता है। इस आकर्षण के प्रति कई नेत्र चुम्बक की तरह खिंच जाते हैं और उस शरीर रचना को देखकर मुग्ध बन जाते हैं। बलभद्र मुनि की उत्कर्षपूर्ण शारीरिक रचना को देखने में मुग्ध बनकर ही तो पनिहारिन ने घड़े की जगह अपने पुत्र के

गले में रस्सी बाँधकर उसे कुए में उतारने लगी थी। सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप–स्वरूप को देखने के लिये स्वर्ग से देव दौड़ पड़ा था। श्रेणिक–चेलना तथा सती मृगावती आदि के कई प्रसंगों से शारीरिक उत्कर्षता का द्योतन होता है।

ऐसी उत्कर्षता की अवस्था को देखकर पुरुष कई बार सहिष्णुता की परिधि को लांघकर कल्पना करता है कि मेरे समान शारीरिक सम्पदा किसी की नहीं है। इस धुन में वह दूसरों को हीन तथा घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इस रूप में उसकी सहिष्णुता विछिन्न हो जाती है एवं अन्य प्रगति को साधने में वह अपनी शारीरिक शक्ति का सदुपयोग नहीं कर पाता। समीक्षण ध्यान साधना में भी वह सफल नहीं हो पाता है।

वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक तथा वैभव संबन्धी उत्कर्षताओं में अहंकारग्रस्त हो जाने वाले पुरुष समीक्षण ध्यान में गति नहीं कर पाते हैं। कैसा भी उत्कर्ष हो, उसे अपने मन पर हावी नहीं होने देना चाहिये। स्वयं के उत्कर्ष से हीन–उत्कर्ष वाले व्यक्तियों के साथ समभाव पूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। स्वयं के समान तथा स्वयं से अधिक उत्कर्ष वालें व्यक्तियों के साथ ईर्ष्या नहीं आने देनी चाहिये। ऐसी सहिष्णुता को साकार रूप देकर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तरावलोकन की योग्यता प्राप्त की जा सकती है।

जीवन अनेकानेक विचित्र परिस्थितियों में से गुजरता रहता है। कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिरछी गति करने का क्रम चलता रहता है। पर्याय की दृष्टि से भी शरीर विविध पर्यायों को धारण करता है। उनमें कभी अनुकूल पर्याय को धारण करता है तो कभी प्रतिकूल पर्याय को। कभी शारीरिक निरोगता रहती है तो कभी रोगों का सामना भी करना पड़ता है। व्यक्तित्त्व एवं कर्तृत्त्व झूले के हिण्डोलों की तरह कभी ऊपर से नीचे उतर आता है। बौद्धिक सम्पन्नता होते हुए भी आर्थिक विपन्नता की अवस्था आ जाती है। पहले की समृद्ध पारिवारिक गरिमा भी न्यून बन जाती है। यश भी अपयश में बदल जाता है। उत्कर्ष से जीवन दशा अपकर्ष की ओर

मुड़ जाती है। इन विविध अवस्थाओं के उतार–चढ़ाव की परिस्थितियों में प्रायः व्यक्ति अपने आपको सन्तुलित नहीं रख पाते हैं और दैन्य, निराशा, हतवीर्यता या क्रोध में भरकर असहिष्णु बन जाते हैं। उस समय में दूसरों के प्रति कलुष एवं विद्वेष की भावनाएँ भी उभर अरती हैं तो अपने प्रति भी भूतकाल के स्मरण के साथ हीन भावनाएँ जन्म ले लेती हैं। वैसे असहिष्णुतापूर्ण मानस में कर्तव्याकर्तव्य का भान भी नहीं रहता है। व्यथा से भरी हुई वैसी आत्मा की दशा दयनीय हो जाती है।

ऐसी आत्मा ने समत्वमय चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर अपने स्वभाव से विपरीत विभावों को अपनाया तो उसकी वृत्तियाँ विभिन्न पर्यायों में बिखर गई, जिससे उसका मूल ज्ञान केन्द्र ही उसकी पहिचान से निकल गया। यदि वह आत्मा स्वयं का विज्ञान प्राप्त कर लेती और स्वयं के स्वभाव से भिन्न अवस्थाओं को तटस्थ दृष्टा होकर देखती तो केन्द्र की मूल आधारशिला अपकर्ष–सहिष्णुता को पा लेती। जिन पुरुषों ने अपकर्ष–सहिष्णुता की वास्तविकता प्राप्त की एवं तदनुसार सभी पर्यायों में सहिष्णुता की पतवार को हाथों में थामे रखा, वे विकट एवं प्रतिकूल अवस्थाओं में रहते हुए भी समीक्षण ध्यान की दिशा में प्रयाण करने में पीछे नहीं रहे। अतः अपकर्षण सम्बन्धी सहिष्णुता भी महत्त्वपूर्ण है।

3. वैयक्तिक सहिष्णुता

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में स्वयं की योग्यतानुसार ही अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है। व्यक्तित्व जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्तित्वाभाव में व्यक्ति आत्मारहित शरीर के तुल्य हो जाता है। व्यक्तित्व की अनुभूति से ही अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। व्यक्तित्व की अनुभूति न हो तो जीवन का कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। बाल्यावस्था में बालक जब कुछ समझ पकड़ने लगता है तो वह अज्ञात मनःस्थिति में ही सही अपने व्यक्तित्व की अनुभूति करने लगता है। उसके भीतर में व्यक्तित्व के महत्त्व का

अस्पष्ट–सा अंकन हो जाता है। तब उस व्यक्तित्व का पोषण करने के लिये वह प्रत्येक कार्य में अपने आपको नियोजित करने की चेष्टा करता है। यद्यपि उस अवस्था में वह व्यक्तित्व के मूल्य को स्पष्ट रूप से नहीं जान पाता है, फिर भी शरीर पर्याय के साथ उसकी सहज एवं स्थायी भाव की वृत्ति बन जाती है। जब कभी उसके व्यक्तित्व को ठेस पहुंचती है तो वह खिन्नता का अनुभव करने लगता है। इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व को संवर्द्धन करने वाला सम्मान मिलता है तो वह प्रफुल्लता का अनुभव भी करता है और उस दिशा में आगे बढ़ने की अप्रत्यक्षरूप से चेष्टा करता है।

व्यक्तित्व सम्बन्धी ऐसी वृत्ति के साथ जब वह बालक बड़ा होता है और व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष मूल्याकंन करने लगता है, तब वह व्यक्तित्व के निमार्ण से सम्बन्धित हेतुओं से भी परिचित हो जाता है। व्यक्तित्व को कब ठेस लगती है और कब प्रेरणा मिलती है, इसका विज्ञान भी वह कर लेता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी समस्त दृष्टियों का ज्ञाता होने पर जब वह व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने में भलीभांति समर्थ हो जाता है, उस समय वह यदि स्वयं के व्यक्तित्व का अहंकार न करे तथा अपने स्वभाव व व्यवहार को कोमल एवं विनम्र बनाये रखे तो इसका व्यक्तित्व अथवा वैयक्तिक सहिष्णुता विकसित होने लगती है। ऐसी मानसिकता में वह एक ओर स्वयं के व्यक्तित्व को सार्थकता का निखार दे देता है तो दूसरी ओर अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को भी सम्मान देता हुआ दूसरों के जीवन–विकास में योग्य सहायक बन जाता है। वह अपने से हीन व्यक्तित्व वाले पुरुषों का कभी तिरस्कार नहीं करता, बल्कि छोटे बच्चों के साथ भी ऐसा स्नेहिल व्यवहार करता है कि बच्चों के यथोचित व्यक्तित्व विकास में भी सहयोग मिल जाता है। वह सभी व्यक्तियों के जीवन की परिस्थितियों को समभाव से देखता है एवं करुणाभाव से ओतप्रोत होकर दूसरों को उनकी योग्यता के अनुसार अपने–अपने व्यक्तित्वों के सम्यक् विकास की प्रेरणा देता है। उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व को क्षति पहुंचाने वाली बोतों को जिन रूपों में वह देखता है उनके संशोधन के लिए उन्हें संतुलित स्वरूप में सुमधुर

उपदेश भी देता है।

वैयक्तिक सहिष्णुता के धनी ऐसे पुरुषों के ऐसे व्यवहार से कई पुरुषों का व्यक्तित्व सफलता पूर्वक निखरता है। यह अलग बात है कि कोई व्यक्ति उनके स्नेहिल व्यवहार को न समझ कर उनके निमित्त से स्वयं के व्यक्तित्व का भव्य निर्माण न कर पाते हों। परन्तु ऐसे स्नेहिल पुरुषों का सब ओर व्यापक प्रभाव पड़ता है। ऐसे स्व–पर सुधारक व्यक्तित्व कस निर्माण तभी हो पाता है जब कोई व्यक्तित्व सहिष्णुता को अपने साथ अपनी छाया की तरह लेकर चले। ऐसा पुरुष हीन, क्लीष्ट अथवा विद्रोही व्यक्तित्वों के प्रति भी समता की भूमिका पर खड़ा रहकर असहिष्णुता का व्यवहार नहीं करता। इस विकसित सहिष्णुता के साथ ही स्वयं की आत्मसिद्धि हेतु समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया को भव्यविधि से अपना सकते हैं।

4. पारिवारिक सहिष्णुता

पैतृक सदस्यों वाला समूह परिवार कहलाता है। यह एक छोटी इकाई के रूप में रहता है। सामान्यतया परिवार के सदस्यों की व्यवसायवृत्ति, भोजनादि की व्यवस्था अथवा आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुओं की संपूर्ति संयुक्त रूप से हुआ करती है। इसमें एक दूसरे का परस्पर आत्मीयतामय सम्बन्ध रहता है, जिसके कारण वे एक दूसरे के सुख–दुःख में पारस्परिक योगदान करते हैं। परिवार में भी अनुशासन की आवश्यकता होती है, किन्तु वह अनुशासन, आत्मीयता की अनुभूति को लिये हुए ही होना चाहिये। जिन परिवारों में ऐसा अनुशासन होता है, उनकी पारिवारिक गरिमा तथा समाज में महत्त्व की स्थिति अभिव्यक्त होती है। ऐसे परिवारों के साथ अन्य परिवार वाले स्पर्धा करके स्वयं की उन्नति साधने के इच्छुक बनते हैं। इसके विपरीत कुछ परिवार ऐसे भी रहते हैं जो समुन्नत परिवारों के साथ ईर्ष्या वृत्ति को पनपाते हैं। ईर्ष्या के वशीभूत होकर वे समुन्नत परिवारों को छिन्न–भिन्न एवं विश्रृंखलित करने के जघन्य प्रयास भी करते रहते हैं।

यहाँ पर भी सहिष्णुता और असहिष्णुता का प्रश्न सामने आता

है। असहिष्णु परिवार उपर्युक्त हीन प्रयास कर सकते हैं, किन्तु जिन परिवारों में पारिवारिक सम्बन्धों को लेकर सहिष्णुता की विकसित वृत्ति होती है। उनके सदस्यों का पारस्परिक व्यवहार एक दूसरे के स्वभाव को पहचान लेने के कारण बहुत ही सौहार्द्रपूर्ण होता है। वे किसी सदस्य की कोई भूल देखकर भी असहिष्णु नहीं बनते, अपितु एक दूसरे के सहयोग से भूल को सुधारने में लग जाते हैं।

परिवारों में जब इस प्रकार की सहिष्णुता वृत्ति का विकास होता है तो उनकी सामाजिक क्षेत्र में एक गरिमा स्थापित हो जाती है। प्रत्येक सदस्य के मन में दायित्व की भावना सुदृढ़ बन जाती है कि उसे न तो पारिवारिक गरिमा को स्वयं की अहं वृत्ति से कलंकित करना है तथा न ही विविध प्रकार के पारिवारिक कर्तव्यों से उसे स्खलित होना है। ऐसे सदस्य तब सहज स्नेह के साथ विश्रृंखलित परिवार को भी स्वस्थ निमार्ण करके आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। समुन्नत परिवारों के ऐसे सदस्यों का यही चिंतन रहता है कि मुझमें अहंकार पैदा न हो और मैं सबकी यथाशक्ति सेवा करता रहूँ। ऐसे चिन्तन से असहिष्णुता के पैदा होने और पनपने को कोई अवसर नहीं रहता है, क्योंकि परिवारों के मुख्य व्यक्तियों में ऐसी सहिष्णुता समाई रहती है कि वह अन्य सदस्यों के लिये भी आदर्श तथा अनुकरणीय बन जाती है।

मुख्य व्यक्तियों एवं सदस्यों की दृढ़ सहिष्णुता के आधार पर ही पारिवारिक सहिष्णुता का निर्माण होता है। ऐसे परिवार चाहे आंशिक रूप ही सही–आध्यात्मिक ध्यान साधना की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि अधिकांशतः उनकी साधना सामूहिक रूप से ही विकसित होती है। ऐसी पारिवारिक सहिष्णुता का सुप्रभाव पूरे सामाजिक वायुमंडल पर पड़े बिना नहीं रहता। इस वायुमंडल की प्रेरणा कई अर्धविकसित अथवा अविकसित परिवार भी ग्रहण करते हैं तथा धीरे–धीरे अपनी गरिमा का निर्माण करते हैं।

5. सामाजिक सहिष्णुता

समाज भी एक विशेष इकाई है। व्यक्तियों के सामूहिक

व्यवस्थित परिवेश को समाज की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। केवल जन–समुदाय के एकत्रिकरण को समाज नहीं कहा जा सकता है। ऐसा समूह तो पशुओं का भी हो सकता है। इसलिए परस्पर निरपेक्ष समूह को समाज न कह कर "समझ" की संज्ञा दी गई है। क्योंकि समाज में परस्पर सापेक्ष दृष्टि से सभी के हित की व्यवस्था कर प्रावधान रहा हुआ है।

जिन व्यक्तियों के समूह से समाज की संरचना होती है, उन सभी का उसमें सामान्य हित संन्निहित होता है। उस हित की सुरक्षा हेतु सामाजिक आचार संहिता लिखित रूप में निर्धारित होती है। अथवा सतत व्यवहार से एक जीवन्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। उसमें समाज के प्रत्येक सदस्य से समूचित अधिकारों एवं तदनुरूप कर्तव्यों का बोध रहता है। वैसी संहिता का निर्माण सभी की विचार चर्चा के साथ विधिवत् रूप से होता है। उसमें बाद में कोई भी परिंवर्तन–परिवर्धन नहीं कर सकता और न ही आचार सहिंता अथवा उसमें किये गये विधिवत् परिवर्तनों या परिवर्धनों की अवहेलना ही कर सकता है। जिस समाज में इस प्रकार के सुव्यवस्थित विधिविधान के साथ आचार संहिता का अनुशरण होता हो, वहाँ यह समझा जा सकता है कि सभी सदस्यों के सामाजिक हित सुरक्षित हैं।

किसी भी समाज का सुव्यवस्थित रूप ही राष्ट्रीयता की भूमिका का निर्माण करता है। वैसे राष्ट्र एवं समाज के प्रत्येक् सदस्य को पारस्परिक सहयोग से विश्वास एवं शान्ति का अनुभव होता है। अतः सामाजिंक सहिष्णुता का विकास आवश्यक है एवं सभी सदस्यों की सहिष्णुता के प्रति जागृति भी। समाज में भिन्न–भिन्न प्रकृति के व्यक्ति भी सम्मिलित रहते हैं और व्यक्तिगत उत्त्कर्ष अथवा अपकर्ष के सन्दर्भ में परिस्थितियों की भिन्नता भी रहती है, जिससे सामूहिक सद्भाव को बल देने की दृष्टि से सामाजिक सहिष्णुता आवश्यक है। जहाँ समूह होता है, वहाँ असहिष्णुता को बढ़ावा मिलने के अनेक अवसर आते रहते हैं। अतः जब तक अधिक संख्या में व्यक्ति एवं परिवार सहिष्णुत के धरातल पर खड़े नहीं होते तब तक सामाजिक सहिष्णुता के

पल्लवित करने के लिये कठिन प्रयास करने पड़ते हैं। ऐसे वातावरण को सहृदयता पूर्वक बनाना होता है कि विभिन्न व्यक्ति अथवा परिवार ईर्ष्या, घृणा, अवनति अथवा ऐसी ही विभाजक वृत्तियों के शिकार न बनें और उन्हें पूरे समाज की तरफ से सहिष्णुता पनपाने की प्रेरणा मिलती रहे। व्यक्तिगत वृत्तियों को सामाजिक रूप न दिया जाय, जिससे कि अव्यवस्था एवं अराजकता व्याप्त न हो। इस दृष्टि से विशिष्ट समाज संरचना के आधार पर व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिये सामाजिक सहिष्णुता को जीवन व्यवहार में साकार रूप देना परमावश्यक है।

सामाजिक सहिष्णुता को प्रधानता देने वाले व्यक्ति कभी भी व्यक्तिगत स्वार्थवृत्ति में नहीं उलझेंगे। वे सदा सामाजिक हितों को ही प्राथमिकता देंगे। व्यक्ति अपने अहित को सहन कर लेगा किन्तु सामाजिक अहित उसे असह्य होगा। ऐसे समाज में समीक्षण ध्यान की साधना व्यापक एवं गहन रूप से साधी जा सकेगी।

6. राष्ट्रीय सहिष्णुता

विश्व की दृष्टि से राष्ट्र भी एक इकाई ही है। अनेक सामाजिक संस्थाओं का इसमें समावेश होता है। इस इकाई के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का विशिष्ट रूप होता है। राष्ट्रीय सुव्यवस्था एवं हित की दृष्टि से तदनुरूप विधि–विधानों का प्रावधान भी रहता है। राष्ट्र में व्यक्ति, परिवार तथा समाज के हितों की विवेक पूर्वक समन्वित व्यवस्था की जाती है। राष्ट्रीय विधि–विधानों का एकांगीण स्वार्थों से परे व्यापक एवं सबके लिये न्यायसंगत होना आवश्यक है। ऐसे विधि–विधान निर्माताओं में सर्वांगीण यथार्थ ज्ञान तटस्थ एवं हार्दिक औदार्य होना चाहिये। इन आवश्यक गुणों का समन्वय समता के धरातल पर मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के साथ संभावित है। ये गुण आन्तरिक अनुभूति के ज्ञान के साथ ही अर्थात् आध्यात्म की मुख्यता के साथ ही प्राणवान बन सकते हैं। आध्यात्मिकता के साथ जुड़े न होने पर भौतिक ज्ञान–विज्ञान निष्प्राण

से रहते हैं। वर्तमान में परिलक्षित होने वाली राष्ट्रीय व्यवस्था भले ही विधि–विधान के धरातल पर समीचीन दृष्टिगत होती हो, किन्तु इन विधि–विधानों से राष्ट्र के प्रति जो सहिष्णुता उत्पन्न होनी चाहिये वह आज होती हुई नहीं दिखाई देती। राष्ट्रीयता के भले ही लुभावने नारे लगते हों, कल्याणकारी योजनाएँ बनती हों, तथाकथित कार्यसमितियों का निर्माण कर लिया जाता हो, नवीन कार्यप्रणालियाँ घोषित की गई हों अथवा गरीबी और महंगाई को मिटा देने के भरपूर आश्वासन दिये जाते हों, लेकिन उस सच्ची राष्ट्रीय सहिष्णुता का अभाव–सा दिखाई देता है, जिसके प्रभाव से राष्ट्र के नागरिकों में परस्पर सहयोग एवं सौहार्द्र का विकास होता है।

राष्ट्रीय सहिष्णुता के प्रश्न पर प्रत्येक भारतीय को गंभीरता पूर्वक चिंतन करना चाहिये कि क्या इसके बिना राष्ट्र के अभीष्ट साध्य की सिद्धि हो सकेगी ? इस प्रकार चिंतन के क्षणों में ये विदित हो सकेगा कि भारतवासियों के बाह्य धरातल पर ऊपर–ऊपर से ही सोचने का प्रयास किया है और दूसरों की नकल करने की ही अधिक चेष्टा की है, परन्तु भारतीय राष्ट्र की मौलिक–निधि एवं विशिष्टता का, जो समतानुभूति में निहित है, अनुसरण नहीं किया। यदि समतानुभूति का अनुसरण किया होता एवं राष्ट्र–धर्म की अनुपालना की होती तो वर्तमान की शोचनीय स्थिति नहीं बनती तथा राष्ट्रीय चरित्र का इस सीमा तक अवमूल्यन न होता। नैतिकता का नारा तो अवश्य दिया जाता है लेकिन राष्ट्र धर्म को जीवन का अंग मानकर तदनुकूल शिक्षण नहीं दिया जाता। नागरिकों में यह भावना उभरनी चाहिये कि राष्ट्रधर्म मेरे जीवन का आवश्यक अंग है, जिसे मैं छोड़ नहीं सकता। मैं राष्ट्रीय सहिष्णुता को धारण करूँगा तथा अन्य नागरिकों की हित साधना के प्रति असहिष्णु नहीं बल्कि उसमें सहायक बनूँगा। जब नागरिकों के जीवन में राष्ट्रधर्म की ऐसी निष्ठा हो तभी राष्ट्रीय सहिष्णुता को प्रभावकारी सम्बल मिल सकता है। वैसी स्थिति में सहिष्णु नागरिकों का सम्मान होना चाहिये, जिसे देखकर असहिष्णु नागरिक भी अपनी असहिष्णुता को त्याग राष्ट्रीय

धारा में एकजुट होने लगे। समीक्षण ध्यान की राष्ट्रीय धरातल पर साधना करने का यदि अभ्यास किया जाय तो राष्ट्रीय सहिष्णुता अधिकाधिक पुष्ट एवं कल्याणकारी स्वरूप ग्रहण करने लगेगी।

7. पड़ौस की सहिष्णुता

संसार के प्रत्येक मानव को दूसरों के सहयोग की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। साधनावस्था को अंगीकार करके चलने वाले महात्मा भी सामाजिक वायुमंडल की अवस्था से सर्वथा विलग नहीं रह सकते तो फिर गार्हस्थिक अवस्था में रहने वाले मानव का तो कहना ही क्या ? एक मानव जब संसार में रहता हुआ भलिभांति अपना जीवन–यापन करना चाहता है, तब जहाँ भी वह रहता है उसका पास–पड़ौस में रहने वाले अन्य मानवों से सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के बाद संयोग का सिलसिला भी जुड़ता है तथा पड़ौसियों के मध्य प्रेममय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध पारस्परिक सहकार पर आधारित रहता है। सद्भावना पूर्वक सहकार उभय पक्ष के लिये हितावह होता है।

जैसे एक व्यक्ति का पड़ौसी दूसरा व्यक्ति होता है उसी प्रकार एक परिवार का पड़ौसी दूसरा परिवार होता है। पड़ौसी का अर्थ है प्रतिवेश्मी– पास में रहने वाला। इसी रूप में समाज भी पड़ौसी होते हैं और राष्ट्र भी एक दूसरे के पड़ौसी होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के बीच सद्भावनापूर्वक सहकार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार का सहकार पड़ौसी परिवारों, समाजों तथा राष्ट्रों के बीच भी होना चाहिये। यदि कहीं भी पड़ौसी की सहिष्णुता का अभाव होता है तो व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक का जीवन विश्वस्त एवं शांतिदायक नहीं हो सकता। एक दूसरे के अस्तित्व को समानता के साथ स्वीकार करने के पश्चात् ही सद्भावना की अभिवृद्धि होती है। पड़ौसियों में अगर समानता का अनुभाव न रहे तथा ऊँच–नीच या वैर–विरोध की भावना विद्यमान हो तो वहाँ सद्भावना एवं सहिष्णुता का प्रसार संभव नहीं बनता। वैसी वृत्तियों से पड़ौसियों के बीच दुर्भावना ही जन्म लेती

है, जो उभय पक्ष को असहिष्णु बनाकर उन्हें शत्रु की भूमिका पर खड़ा कर देती है। परिणामस्वरूप उन पड़ौसियों का वर्तमान जीवन अशांतिमय, एक दूसरे से भयाक्रांत, तुच्छ स्पर्धाओं से ग्रस्त एवं दूसरें को नीचा दिखाने की जघन्य भावना से परिव्याप्त हो जाता है। वे अपने सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत कर देते हैं। साथ ही भावी प्रजा का भविष्य भी बिगाड़ देते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति की क्षति से अधिक क्षति परिवार की और उससे अधिक क्षति समाज की होती है। परन्तु पड़ौसी राष्ट्र जब संघर्षशील बनते हैं तब हर प्रकार से बहुत बड़ी क्षति होती है। यह क्षति असहिष्णुता से उत्पन्न होती है, जिसे क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोध का समीक्षण विधिवत् तभी हो सकता है जब क्रोध के स्वरूप तथा उसके दुष्परिणामों का समीचीन ज्ञान प्राप्त किया जाय। इसे जाने बिना तुच्छ से तुच्छ बातों पर भी क्रोध भड़क उठता है एवं असहिष्णुतामय कटुता का वातावरण बना देता है। परिणाम यह निकलता है कि मानसिक नियंत्रण डगमगा जाता है , जिसके कारण स्व–पर के हिताहित का भान नहीं रहता।

इस दृष्टि से पड़ौसी की सहिष्णुता का विकास व्यक्ति के स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक अति आवश्यक है। सहिष्णुता का विकास होने पर पारस्परिक सहयोग का सम्बन्ध भी अधिक प्रेममय एवं मधुर बन सकेगा। समीक्षण दृष्टि एवं समता के प्रसार कि लिये वैसा वातावरण बहुत ही उपयुक्त रहेगा।

8. नैतिक सहिष्णुता

जो व्यवहार मानव को अपने जीवन के परमोच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर करे वह नीति है। सामाजिक दृष्टि से जिस आचरण से परस्पर का सद्व्यवहार सधता हो, एक दूसरे का एक दूसरे के प्रति विश्वास बराबर निभता हो, कल्याणकारी सामाजिक विधानों की निष्ठा पूर्वक अनुपालना होती हो वह व्यवहार, नैतिकता कहलाती है। इस नैतिकता में यदि भ्रांतिवश अथवा किसी व्यक्ति के कदाचार के कारण

विश्रृंखलता आती हो, उस समय में सहिष्णुता की अवश्यकता होती है, जिससे सद्भावना के साथ उस विश्रृंखल वृत्ति का उपशमन किया जा सके। सहिष्णुता के अभाव में पारस्परिक व्यवहार अवरुद्ध हो सकता है और कटुता की भावना भी फैल सकती है। इस कारण केवल ऊपरी व्यवहार को ही नैतिकता का आधार स्तंभ न मान कर उसमें आत्मीयता तथा आध्यात्मिक भावों का पुट दिया जाना चाहिये।

जो व्यक्ति आत्मीयता के साथ नैतिकता का मूल्यांकन करता है, वह पारस्परिक व्यवहार को ही मात्र कसौटी न मानकर आन्तरिक अनुभूति को सबसे बड़ी कसौटी मानता है। आत्मानुभूति के साथ वह सोचता है कि मैं जो कुछ भी अन्य के साथ सद्व्यवहार कर रहा हूँ, वह मेरी आत्मशुद्धि के लिये पहले है। इस निमित्त से मैं अपने कर्मों का विमोचन कर रहा हूँ। अतः इस सद्व्यवहार के द्वारा मैं अन्य का कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। इसके निमित्त से मुझे स्वर्णावसर मिला है कि मैं पारस्परिक सहयोग से स्व–पर विकास साधूँ तथा अपनी सहिष्णुता में वृद्धि करूँ। अतएव मेरा कर्त्तव्य बनता है कि जो सत्कार्य मैं करूँ और जिसके लिये करूँ वह सर्वप्रथम मेरा ही हितकार्य है। मैं यह क्यों सोचूँ कि दूसरा मेरे प्रति सद्व्यवहार नहीं करता तो मैं उसके प्रति सद्व्यवहार क्यों करूँ ? मुझे अपने किये उपकार का प्रत्युपकार भी नहीं चाहिये। ऐसा सोचने और करने वाला व्यक्ति यथार्थ में नैतिक कहलायेगा। संसार में इस प्रकार की नैतिकता का प्रसार हो तो ही सभी क्षेत्रों में सर्वहितकारी व्यवस्था स्थापित हो सकती है। आज की जो प्रचलित नैतिकता है वह एक दृष्टि से सच्ची नैतिकता नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ के कई हेतु समाये हुए रहते हैं। उन हेतुओं की संपूर्ति तक तो सद्व्यवहार चलता है लेकिन बाद में व्यवहार पलट जाता है। यदि स्वार्थपूर्ति में विघ्न उत्पन्न हो जाए तो वही दिखावटी सद्व्यवहार असद्व्यवहार में परिवर्तित हो जाता है। नैतिक सहिष्णुता और सद्व्यवहार वास्तविक वही कहलायेगा जो भले एक ओर से ही हो फिर भी टूटे नहीं। नैतिकता का धनी यह अपेक्षा नहीं रखता कि

सामने वाला भी ऐसा ही व्यवहार करे। उसका सद्व्यवहार अपनी आत्मानुभूति पर आधारित होता है, सामने वाले के व्यवहार पर नहीं। सामने वाले के सद्व्यवहार को भी वह समभाव से सहन करता है तथा अपने सद्व्यवहार को न छोड़ने की आत्मीय निष्ठा को परिपुष्ट बनाता है। नैतिक सहिष्णुता इस प्रकार वसुधैव कुटुम्बकम तक पहुँचाने वाली एक महत्त्वपूर्ण साधना बन सकती है।

9. साम्प्रदायिक सहिष्णुता

सम्प्रदाय शब्द की व्युत्पत्ति होती है– सम्यक्–प्रदाय। प्रदाय या प्रदान कई प्रकार का हो सकता है, परन्तु यहाँ प्रदान का तात्पर्य विचार एवं सद्भावना के रूप में है। सम्यक् अर्थात् सत्य विचारों का, एक दूसरे को आदान–प्रदान करना। यह आदान–प्रदान भी सम्यक् भाव की साधना के लिये होना चाहये। जब मानव विषमता की भट्टी में झुलसता है, तब वह अपनी उस जलन से बचने का मार्ग ढूँढता है। वह उस समय यदि समता की पराकाष्ठा को पाने वाले विशिष्ट साधक का संयोग पा जाता है तब वह विषमता की समाप्ति तथा समता की प्राप्ति के लिये अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है। वीतराग विधि से जब उसे समतामय उपदेश सुनने को मिलता है तो वह उसे ग्रहण करने की अभिलाषा बनाता है। वीतराग विधि को समग्र रूप से कोई विशिष्ट पुरुष ही ग्रहण कर पाते हैं। जन–साधारण की समझ उतनी गूढ़ नहीं होती कि जिससे वे इस विधि को त्वरित गति से ग्रहण कर सकें। कदाचित् कुछ व्यक्ति ग्रहण करने वाले भी सामने आते हैं परन्तु समग्र विधि को एक साथ ग्रहण नहीं कर पाते हैं। कुछ विषय कुछ व्यक्ति ग्रहण करते हैं तो कुछ विषय कुछ अन्य व्यक्ति ग्रहण करते हैं। परिणाम स्वरूप दोनों वर्गों के व्यक्ति अधूरे ही रहते हैं। अतः ऐसे जिज्ञासु अलग–अलग न रहकर एकसाथ अवस्थान कर लेते हैं एवं परस्पंर सम्यक् विचार विनिमय द्वारा उस अवस्था को जीवन में ढ़ालने की कोशिश करते हैं। ऐसी जिज्ञासा वाले अन्य व्यक्ति भी उसमें सम्मिलित होकर समता के आधार पर व समन्वय के आधार पर राग–द्वेष को जीत लेने का प्रयास करते हैं। मगर सत्य

का स्वरूप अतिशय विराट् है, अतः पूरी तरह वह जब पकड़ में नहीं आता तो सभी का दृष्टिकोण आंशिक बन जाता है। कभी किसी विषय में मतभेद या उलझन पैदा हो सकती है। वैसे तो महिला वर्ग, पुरुष वर्ग की अपेक्षा राग–द्वेष से विमुक्त होने के लिये समता की साधना में भाग लेने का अधिक इच्छुक होता है। किन्तु उसमें भी आंशिक ज्ञान के कारण उलझनों का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। उभय वर्गों की ऐसी उलझनों को समाहित करने की आवश्यकता रहती है, लेकिन वह समाधान समान स्तर के साधकों से होना शक्य नहीं होता। ऐसा समाधान ही समाहिति के लिये उन सभी साधकों को अपेक्षा रहती है कि कोई विशिष्टि साधक अपनी सत्संगति प्रदान करे, जो परिपूर्णता की परिधि को पा चुका हो। ऐसा महत्त्वपूर्ण स्वरूप होता है परम वीतराग अवस्था को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी भगवान का। जो अपने आप में तो कृतकृत्य हो चुके होते हैं किन्तु अन्य भव्य जनों के हित के लिये भी करुणा के सागर बनकर वीतरागता पूर्वक समता के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करने का भव्योपदेश देते हैं। उनका उपदेश सामूहिक रूप से सार्वजनिक कल्याणार्थ होता है। अतः उनके उपदेश की मुमुक्षु जन अपनी योग्यता के अनुसार यथाशक्ति जीवन में उतारने हेतु प्रयत्नशील बनें एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाते हुए ऊर्ध्वमुखी स्वरूप के अनुगामी बनें। एतदर्थ तीर्थंकर देव चार तीर्थ की स्थापना करते हैं, जिससे चतुर्विध संघ की निर्मिति बनती है। ऐसे संघ के साधकों में गुण कर्मानुसार वर्ग का स्वरूप भी सामने आता है। वह वर्ग चार विभागों में विभक्त रहता है यथा– साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। साधु एवं साध्वी ये दोनों वर्ग यथाशक्ति आत्मसाधना में तन्मय होने के लिये पांच महाव्रतादि नियमों को साकार रूप देकर चलते हैं। ऐसी क्षमता गृहस्थाश्रम का स्वरूप लेकर चलने वाले साधकों में नहीं होती। अतएव वे आशिंक अहिंसादि व्रतों को स्वीकार करके चलते हैं। उनमें जिनका भी प्रवेश होता है उन सभी के दो वर्ग बनते हैं– श्रावक वर्ग और श्राविका वर्ग। इस प्रकार जिस चतुर्विध संघ की संरचना तीर्थंकर देव करते हैं, वही चतुर्विध संघ कहलाता है। उस संघ के नायक तीर्थंकर देवों के द्वारा दिये गये उपदेश को

हृदयंगम करने के लिये परस्पर के विचारों का सम्यक् प्रकार से आदान–प्रदान करते हैं। उन साधकों में परस्पर के आदान–प्रदान करने पर भी सम्यक्रीत्या समाधान नहीं बन पाता तो वे अनाग्रही बनकर तीर्थंकर देव के समीप पहुँचते हैं और तीर्थंकर देव जो समाधान देते हैं उनको वे सभी साधक सहर्ष स्वीकार करते हैं। तीर्थंकर देव की अनुपस्थिति में तीर्थंकर देव के उत्तराधिकार को लेकर चलने वाले संघ नायक (तृतीय पद, आचार्य देव) के पास पहुंचते हैं और वहाँ उनका समाधान हो जाता है। क्योंकि उन सभी साधकों का वह वरिष्ट पद है और चतुर्विध संघ का उस वरिष्ट पद में अनन्य विश्वास होता है। साथ ही तीर्थंकर देवों की अविद्यमानता की पूर्ति भी हो जाती है। अतएव जहाँ भी संघ है वहाँ पर संघपति अनिवार्य रूप से होते हैं। यह संघ भी एक प्रकार से व्युत्पत्यर्थक "सम्प्रदाय" का द्योतन करने वाला है। इस संघ व्यवस्था में रहता हुआ साधक आत्मकल्याण करने में सफलता प्राप्त करता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव में साधकों की स्थिति चिंतनीय बन जाती है और वे स्वयं, स्वयं की मति से कार्य करते हुए इतने आग्रहशील हो जाते हैं कि जिससे कषाय की अभिवृद्धि के साथ–साथ संसार की भी अभिवृद्धि कर बैठते हैं। ऐसे साधकों का कदाचित् कोई समूह हो भी सही तो वह सम्प्रदायवाद की संज्ञा पाता है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ से वह समन्वित नहीं होता है। अतएव सम्प्रदाय शब्द के व्युत्यर्थ से सम्बन्धित संघ (सम्प्रदाय) ही आत्मशुद्धि में सहायक होता है। ऐसे संघ में केवल आध्यात्मिक लक्षण की प्राप्ति हेतु सद्विचारों का आदान–प्रदान अहिंसादि नियमों की स्वच्छ परिधि में किया जा सकता है। स्वच्छ परिधि के अभाव में वह सम्भव नहीं होता है। इसे एक उदाहरण से समझें। दस हजार पॉवर के प्रकाश को प्रकट करना है तो उसके अनुरूप ही स्वच्छ काच आदि के बल्ब की जरूरत होगी। यदि आवश्यक स्वच्छ काच आदि का प्रयोग न किया जाय और उसकी उपयुक्त परिधि नहीं बनाई जाय तो विद्युत का कितना ही पॉवर क्यों न हो उसका वांछित लाभ उठाया नहीं ज सकेगा। बल्ब की परिधि जब तक पूर्ण स्वच्छ नहीं होगी, उतन

हुआ सर्वोच्च परमात्मा पद को प्राप्त कराने वाले को पथ पर अग्रसर बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसे ही संगठन के सम्बल से परमात्मा पद को प्राप्त करने का सामर्थ्य भी अभिवृद्ध होता है। भव्य और कल्याणकरी सहिष्णुता जिस साधक के आत्मस्वरूप में पल्लवित और पुष्पित–फलित होती है, वह साधक समता लोक में अन्तश्चेतना का साक्षात्कार करता हुआ एक न एक दिन उच्चतम परमात्म–पद का अधिकारी बन जाता है।

अतः साम्प्रदायिक सहिष्णुता के विज्ञान को हंस–चंचु के समान मानना चाहिये, जो अपने विवेक–विकास से दूध और पानी को ही अलग नहीं करती बल्कि दूध–दूध के भेद को भी स्पष्ट कर देती है। दूध–दूध में कितना ही भेद होता है। एक माता का दूध होता है, तो गाय का दूध भी होता है। साथ ही भैंस, बकरी आदि का दूध भी होता है। सिंहनी का दूध भी दूध ही कहलाता है तथा आकड़े, धतूरे का दूध भी सफेद ही होता है और दूध के नाम से ही अभिहित होता है। लेकिन क्या सभी दूध एक–से होते हैं ? दूध को मात्र नाम से ही नहीं बल्कि विवेकशील पूरुष गुणों से पहचानते हैं। वे हेय, ज्ञेय और उपादेय की दृष्टि से विश्लेषण तथा यथायोग्य ग्रहण बुद्धि का परिचय देते हैं। इसी प्रकार साम्प्रदायि क संरचना के सम्बन्ध में भी बुद्धिमान पुरुषों को स्वयं की विवेक प्रज्ञा का उपयोग करना चाहिये तथा तुलनात्मक रीति से यथार्थ स्वरूप को पहचान लेना चाहिये। वैसी स्थिति में सहिष्णुता की कसौटी पर सूर्यालोक के सदृश्य सत्य वस्तुस्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा।

10. आध्यात्मिक सहिष्णुता

आध्यात्मिक साधना एक महत्वपूर्ण साधना होती है। इस साधना के साथ संबंधित साधक को आध्यात्मिक सहिष्णुता का सामर्थ्य अर्जित करना ही चाहिए। इसके बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में गतिशीलता संभव नहीं होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन का प्रवेश ही अति दुरुह माना गया है। क्योंकि आत्म–स्वरूप की गहन परतों का उद्‌घाटन करने में

सक्षम होना उसके लिए अनिवार्य शर्त है। इस क्षेत्र में तो गहरे से गहरे उतरते रहने की आवश्यकता होती है। उस अवस्था का साक्षात्कार उसी स्तर की गहनता में डुबकी लगाने पर शक्य होता है। किन्तु अत्यंत गहन विषय का बाह्य स्वरूप भी होता है। जैसे जमीन में फैली हुई किसी वृक्ष की जड़ें बाहर नहीं दिखाई देतीं लेकिन शाखा–प्रशाखाओं और फूलों, पत्तों व फलों द्वारा उस वृक्ष का बाह्य स्वरूप दिखता ही है। उस वृक्ष की जड़ों का साक्षात्कार करने के लिए उसके बाहरी स्वरूप को ही सम्मुख रखकर अन्वेषण प्रारंभ किया जाता है। इसे शास्त्रानुसार अनुमान प्रमाण कहते हैं। अगर जड़ें न होतीं तो फूल, पत्ते व फल भी नहीं होते। यदि वृक्ष की पत्तियाँ शुष्क हों अथवा रोग–ग्रस्त हों तो उन पत्तियों की प्रकृति के आधार पर वृक्ष के अदृश्य भाग की प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है। उन शुष्क एवं रोग ग्रस्त पत्तियों को देखकर अन्वेषणकर्ता खिन्न नहीं होता अपितु चिंतन करता है कि एक ही वृक्ष पर दो किस्म की पत्तियाँ क्यों हैं ? एक किस्म की पत्तियों पर तो हरियाली की आभा है किन्तु दूसरी किस्म की पत्तियों पर शुष्कता की रुक्षता है। इसका क्या कारण है ? दोनों में अंतर होने के हेतु अलग–अलग होते हैं। यदि सूर्य की प्रखर किरणों से या शीत भरी हवाओं से पत्तियों के सूखने का प्रसंग आता है तो वृक्ष की सभी पत्तियाँ सूखती हैं। परन्तु यह बाह्य निमित्त शुष्कता का कारण तब तक नहीं बन सकता, जब तक कि अंतरंग हेतु यथार्थ रूप में रहे। अंतरंग हेतु यथार्थ रूप में रहे तो सूर्य की प्रखर किरणें अथवा शीत भरी हवाएँ पत्तियों को सुखा नहीं सकतीं। जड़ों की ताकत से वे हरी भरी रहती हैं।

अन्वेषक साधक इस प्रकार के वृक्ष–विशेषों का जब अन्वेषण प्रारंभ करता है तब वह दृश्य–भाग को माध्यम बनाकर ही आगे बढ़ता है। यह उस साधक की सहिष्णुता अथवा असहिष्णुता होती है कि शुष्क के विषय पर चिंतन करता हुआ कितनी गहराई तक पहुँच पाता है। इसे आध्यात्मिक सहिष्णुता कहेंगे कि वह शुष्क से विषयों पर चिंतन करते हुए खिन्न अथवा असहिष्णु नहीं बनता है तथा चिंतन की

गहराइयों में उत्साहपूर्वक गति करता हुआ चला जाता है। वही साधक आगे के अन्वेषण में भी सफलता प्राप्त करता है।

मानव जीवन को भी एक प्रकार से वृक्ष की उपमा दी जा सकती है। इस जीवन की कई महत्वपूर्ण विशेषताएँ बताई गई हैं। समग्र विश्व में आत्माएँ निज कर्मानुसार विभिन्न शरीर–पर्यायों को धारण करती हैं। उन सभी शरीर पर्यायों में मानव शरीर को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जन–साधारण की दृष्टि में देव–शरीर का विशेष मूल्य माना जाता है, जो भौतिक समृद्धि तथा वैभव आदि की दृष्टि से वास्तव में बढ़ा–चढ़ा हुआ होता है। लेकिन जो आत्मिक प्रगति मानव शरीर के माध्यम से साधी जा सकती है, वह देव शरीर से नहीं। मनुष्य शरीर पर्याय में रहती हुई आत्मा ही सर्वोच्च्व साधना से सम्पन्न बन सकती है। भौतिक साधना की अपेक्षा आंतरिक अर्थात् आध्यात्मिक साधना ही सभी साधनाओं में श्रेष्ठतम होती है। अतः आध्यात्मिक साधना ही सर्वाधिक महत्वशाली है।

आध्यात्मिक साधना के परिपूर्ण रूप से सध जाने पर अन्य सभी प्रकार की साधनाएँ स्वतः ही सिद्ध हो जाती हैं। अवशेष कुछ भी नहीं रहता। इसीलिए कहा गया है– "एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाए।" महावीर प्रभु ने भी उद्घोषित किया है कि–

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणई, से एगं जाणइ।।

अर्थात् जो एक स्वरूप को सर्वाङ्गीण एवं पूर्ण रूप से जानता है, वह समग्र स्वरूपों को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जानता है तथा जो समग्र स्वरूपों को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जानता है, वही एक स्वरूप को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जानता है।

यहाँ जिस एक स्वरूप का संकेत किया गया है, वह स्वरूप अथवा तत्त्व आत्मा है। जो इस आत्म–स्वरूप को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जान लेता है तथा उसका साक्षात्कार कर लेता है, वह समग्र जड़–चेतन, रूपी–अरूपी तत्त्व–स्वरूपों का विज्ञाता हो जाता है।

ज्ञान का माध्यम आत्म–तत्व ही है। अन्य तत्त्व संवेदनशील न होने के कारण जड़ हैं। अतः अन्य का विज्ञाता रूप से माध्यम नहीं बन सकते हैं। आत्मा भी मानव–शरीर पर्याय में रहती हुई योग्य विकास साध लेने के बाद ही स्वसंवित्ति से समग्र विश्व का विज्ञान करने की क्षमता वाली बन सकती है। पहले वह निज की संवेदनशीलता को समझती है और फिर उसके आधार पर सम्यक् निर्णायक शक्ति से सम्पन्न बनती है। इतना विकास साध लेने पर ही वह आगे की गति–प्रगति को साधने में समर्थ बनती है। स्व–सम्यक् निर्णायक शक्ति समता की भूमिका पर, सहिष्णुता की सीढ़ियाँ चढ़ कर ही सम्पादित की जा सकती है। जैसा कि ऊपर मानव जीवन को वृक्ष की उपमा से उपमित किया गया है, उस उपमिति की दृष्टि से मानव पर्याय के अंतरतम में सत्ता रूप से समग्र स्वरूप को जानने की एवं देखने की योग्यता शक्ति रूप में विद्यमान है किन्तु आवृत बनी हुई है। उस योग्यता को अनावृत करने के लिए प्रारंभिक अन्वेषण सामान्य जनों द्वारा अनुभूत दृश्यों से आरंभ किया जाता है। आंतरिक प्रतरों के बीच में होकर आने वाली आंतरिक ऊर्जा सामान्य जन के समक्ष विकृत रूप में प्रकट होती है। उस विकृत रूप के दृश्यों को देह प्रकम्पन, टेढ़ी भौंहों, लाल नेत्र, फड़फड़ाते हुए होठ और कटकटाती दंत पंक्ति के द्वारा वीभत्स एवं उत्तेजित करने वाली प्रवृत्ति के साथ जब प्रकट किया जाता है, तभी सामान्य जन उस प्रवृत्ति को क्रोध के रूप में पहिचान पाते हैं। बाह्य रूप से प्रकट होने वाली इस क्रोधावस्था को शुष्क एवं रोगस्त पत्तियों के समान समझें जिन्हें देखकर आंतरिक विकृत रूप के दृश्यों का अन्वेषण किया जाता है। जब अनुकूल अप्रशस्त राग के रूप में मुखाकृति की वृत्तियाँ अनुभूत होने लगती हैं तो वे हरी–भरी पत्तियों के समान दिखाई देती हैं। इस प्रकार की दृश्यावस्थाओं से ही साधक अपनी अंतर्यात्रा का अन्वेषण प्रारंभ करता हुआ आंतरिक स्वरूप में या यों कहें कि आध्यात्मिकता में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है।

इसी सत्य का उद्बोधन महावीर प्रभु ने आचारांग सूत्र में दिया है और बतलाया है कि "जे कोहदंसी, से माणदंसी"– जो साधक

क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। इस कथन में क्रोध को देखने का क्या अभिप्राय है ? कैसे देखता है क्रोध को देखने वाला मान को ? इसका कुछ भी स्पष्टीकरण उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगत नहीं हो पा रहा है। पूर्व के सुज्ञ पुरुषों ने इन सूत्रों के रहस्य को क्यों अभिव्यक्त नहीं किया, यह तो वे महानुभाव ही जानें, किन्तु वीतराग देवों ने जो इस सूत्र का संकेत दिया है, वह ज्ञान–विज्ञान के अनेक रहस्यों से परिपूर्ण लगता है। इन्हें अनन्तगम वाले सूत्र भी कह सकते हैं। किन्तु उस अनंतगम का जब तक अवबोध नहीं होगा, तब तक वीतराग देव के इनसे संबंधित अमूल्य उपदेश का समीचीन लाभ नहीं उठाया जा सकेगा। उन गमों को बाह्य परिवेश में अथवा भौतिक दृश्यों की स्थिति से पूरी तरह नहीं समझा जा सकेगा। उनका अवबोध करने के लिए अहिंसादि आंतरिक अनुसंधानों के साथ समतानुभूति के आधार पर समझने का प्रयास किया जाए तो यथा विकास यथा योग्य अवस्थान से साधक समझ सकता है एवं अंतर्पथ पर चल पड़ने की क्षमता भी अर्जित कर सकता है।

इसी संदर्भ में यहाँ यत्किंचित् रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयत्न में वीतराग देव के आशयानुरूप अभिव्यक्त यदि सुज्ञों को प्रतीत हो तो वे इसको ग्राह्य मानकर अंतर्पथ पर गति करने का उपक्रम करें।

क्रोध दर्शिता का अनुसंधान

आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर ने जो यह फरमाया है कि– "जे कोहदंसी, से माणदंसी" आदि, इसके सारगर्भित अर्थ को अंतरानुभूति के गंभीर क्षणों में ही समझा जा सकता है। बाह्य पदार्थों के समान क्रोध को इन चर्म चक्षुओं से देख पाना संभव नहीं है, परन्तु क्रोध कर्मवर्गणा के अंतर्गत पौद्गलिक स्कंध स्वरूप ही होता है। वह जब सत्ता अवस्था में रहता है, तब उसको अनुसंधान होना अति ही कठिन होता है, किन्तु जब क्रोध उदयावस्था को प्राप्त होता है उस समय उसकी परिणति रूप को धारण कर लेती है, अर्थात् उसके लक्षण स्थूल

रूप में प्रकट हो जाते हैं। जिनके आधार पर उसे समझ लेना कठिन नहीं रहता। उस समय मन, वचन, काया की परिणति उस वर्गणा से प्रभावित होकर प्रवृत होती है। वह प्रवृत्ति जब शरीर के बाह्य भाग में झलकने लगती है, तब अन्य व्यक्ति उसकी आकृति के क्रोध की अवस्था को अनुमान से समझ जाते हैं। वे उसे आंतरिक अवलोकन से नहीं समझते हैं। अनुमान से उन्हें जो जानकारी उपलब्ध होती है, उस जानकारी को नीरस व शुष्क पत्तों की तरह देखते हुए वे उसके मूल को अन्वेषित करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। कुछ क्षणों पूर्व उस पुरुष की आकृति हरी–भरी पत्तियों के समान मनोहर दिखाई दे रही थी, वही कुछ क्षणों के पश्चात् शुष्क पत्तियों की तरह रुक्ष क्यों हो गई ? यह किस हेतु का परिणाम था ?

क्रोध के प्रकटित बाह्य रूप को देखकर अनुसंधानकर्ता क्रोध रूपी वृक्ष की अंतरंग जड़ों को खोजने के कार्य में आगे बढ़ते हैं। भीतर में दोनों अवस्थाओं का मूल एक ही मालूम होता है, पर दोनों की परिणति में अंतर दिखाई देता है। अभीष्ट पर–पदार्थ को आत्मीय भावना से प्राप्त करने पर हरियाली रूप प्रसन्नता अभिव्यक्त हो रही थी। कुछ समय पश्चात् उसी प्राप्त अभीष्ट पर पदार्थ के अपहरण अथवा विनष्ट होने का प्रसंग उपस्थित हो गया तब उस अनभीष्ट अवस्था को समाप्त करने के लिए मूल से ही अग्नि–शस्त्र के समान जो परिणति अभिव्यक्त हुई, वही शुष्क पत्तियों के तरह की आकृति बनाने वाली सिद्ध हुई। अतएव इन दोनों का जो मूल है, वह क्रोध रूपी कर्म स्कंध के रूप में है। उस स्कंध को देखने के लिए उसके अनुरूप उसी धरातल पर प्रवेश पाने वाली दृष्टि की उपलब्धि अति आवश्यक है।

भौतिक वैज्ञानिक युग में आपेक्षिक सूक्ष्म को देखने के लिए उसके अनुरूप सूक्ष्म दर्शक यंत्र की आवश्यकता रहती है। वह सूक्ष्म दर्शक यंत्र भी उस अवस्था से (दृश्य तत्त्व की अपेक्षा) कई गुना होता है। तभी वह उस सूक्ष्म को कई बड़े आकार में दिखा सकता है। यह तो एक भौतिक रूपक है, परन्तु अभौतिक अवस्था से अनुप्राणित क्रोध रूप को देखने के लिए अभौतिक सूक्ष्मतम यंत्र से सदृश आंतरिक

दृष्टि के पैनेपन की आवश्यकता रहती है। वह आंतरिक दृष्टि समता से युक्त तथा किन्हीं भी कर्म–स्कंधों से अप्रभावित होनी चाहिए। ऐसी दृष्टि का विकास जब तक नहीं होगा, तब तक पुरुष अभौतिकता से अनुरंजित क्रोध रूप स्कंध को देख नहीं पाएगा। वैसी स्थिति में वह वस्तुतः आंतरिक अनुभूति से "कोह दंसी" नहीं होगा। जो "कोह दंसी" नहीं हो सकता, वह "माण दंसी" भी नहीं हो सकेगा। इस दृष्टि से अन्तर्यात्रा के पथिक को चाहिए कि वह सबसे पहले अंतराभिमुखी लक्ष्य बनाकर आंतरिक अवस्थाओं को देखने का अभ्यासी बने। इस अभ्यास में उत्साह की निरंतर अभिवृद्धि हो और उस दृष्टि को पाने के लिए जागरूक अभिलाषा बनी रहे।

अभ्यास की इस पद्धति के लिए समय की भी अपेक्षा रहती है। नियत समय पर किया जाने वाला अभ्यास विशेष सबल बनता है। अभ्यास का मुख्य माध्यम मस्तिष्क होता है, जिसमें अनुवांशिक संस्कारों के साथ–साथ वर्तमान से संबंधित वायुमंडल जनित संस्कार भी अपना प्रभाव रखते हैं।

वर्तमान कालिक वायुमंडल की मुख्य धाराएँ विविध रूपों में विभाजित हैं। दृष्टि प्रसार करने पर आज का संसार और उसके क्रियाकलापों का नक्शा मस्तिष्क में जमने लगता है। पुनः पुनः उन दृश्यों को देखते रहने से एक प्रकार के स्थायी भाव की अवस्था का निर्माण हो जाता है। वे मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेते हैं। ऐसा स्थान वे दृश्य अधिक बना पाते हैं जिन्हें आसक्ति भाव के साथ ग्रहण किया गया है। इन दृश्यों के केन्द्र तथा उपकेन्द्र भी भीतर में स्थापित हो जाते हैं। इन केन्द्रों के माध्यम से मुख्य केन्द्र सक्रिय बना रहता है। उनके अनुरूप शब्द श्रवण की जिज्ञासा मस्तिष्क में जागृत होती है। उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मस्तिष्कीय शब्द केन्द्र की रचना भी निर्मित हो जाती है। उस केन्द्र की शाखा–प्रशाखाओं के माध्यम से तदनुरूप शब्द ग्रहण की प्रणालियाँ भी एक टेप का रूप ले लेती है। वैसे ही शब्दों को ग्रहण करने में वे प्रणालियाँ तत्पर रहा करती हैं।

जब शब्द को आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है तब तदनुरूप गंध, रस और स्पर्श की प्रणालियाँ भी कार्यरत बन जाती है। इन सभी विषयों के पोषण के लिए खाद्य पदार्थ भी उनके लिए अन्वेषणीय हो जाते हैं। इन सबकी सम्पूर्ति आसक्ति के अनुरूप ही हो जाए– ऐसा भी प्रायः नहीं बनता, तब फिर मानसिक विकल्पों का जाल मस्तिष्कीय वायुमंडल में व्याप्त हो जाता है। अहर्निश उन संकल्पों विकल्पों के तानों–बानों में ही जीवनी शक्ति का व्यय होता रहता है। परिणामस्वरूप अन्य किसी विशिष्ट शक्ति के जागरण का अवकाश ही नहीं रहता। शब्द, रूप, गंध, रस स्पर्श की इस प्रकार की प्रणालियाँ उनसे विपरीत दशा को स्थान देने में रुकावटें डालती हैं, इसीलिए मनुष्य अधिकांशतः खोया खोया सा यंत्रवत् जीवन व्यतीत करता है।

मूर्छावस्था से जागृति :

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श की वासनायुक्त प्रणालियों से प्रभावित जीवन को एक दृष्टि से मूर्छा का जीवन कह सकते हैं। मूर्छा का जीवन कह सकते है। मूर्छा की अवस्था में कई बार व्यक्ति कार्य करता हुआ भी देखा जाता है। उसको उन कार्य पद्धतियों में से कई पद्धतियाँ "काकतालीय न्याय" की दृष्टि से लोक–कल्याणकारी भी प्रतीत होती हैं और उनसे वह जन साधारण द्वारा सम्मान भी पा जाता है। वैसी दशा में मूर्छा को अहं वृत्ति की खुराक और मिल जाती है जिससे वह मूर्छाग्रस्त जीवन अपने आपको कृतकृत्य मान लेता है और सोच बैठता है कि मैं सब कुछ करने वाला हो गया हूँ– अब मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। इस प्रकार की तन्द्रावस्था में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाता है। मस्तिष्कीय–तंत्रों की अस्त–व्यस्तता में ही शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। फिर उसमें कुछ करने का उत्साह भी नहीं रहता। परिणामस्वरूप ऐसा मूर्छाग्रस्त जीवन कल्पित अतृप्त वासनाओं में ही मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगता है।

कई पुरुष शारीरिक शक्ति के विद्यमान रहते हुए ही विशिष्ट सत्पुरुषों से सम्पर्क करके स्वयं में कुछ जागृति लाने का साहस

बटोरते हैं। मूर्छा से व्याप्त परिधि में भी वे जागरण–केन्द्रों को जागृत करने का प्रयास करते हैं। उनका क्रम यह बनता है कि वे दिन–रात के चौबीस घंटों में से किसी भी शांत प्रशांत एक घंटे के समय का चयन कर लेते हैं और उस समय में नियमित रूप से एकांत में बैठकर अपनी मूर्छावस्था को विलग करने का पुरुषार्थ करते हैं। वे चेष्टा करते रहते हैं कि उनके आत्मस्वरूप की आदर्श अवस्था विकसित हो और वह दृढ़ीभूत बने। उस समय में दीर्घकाल से व्याप्त मूर्छावस्था से संबंधित केन्द्र–उपकेन्द्र एवं उनकी अधीनस्थ प्रणालियाँ साधक की जागृतावस्था की अंकुरित ज्योति पर आक्रमण करती हैं। उस समय यदि साधक सावधान नहीं रहता है तो वह उन आक्रमणकारी प्रणालियों के अधीन हो जाता है तथा उन प्रणालियों में ही अपनी साधना देखने लगता है। कुछ समय तक इस प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है। तब वह साधक स्वयं हतोत्साह हो जाता है और सोचता है कि यह दृश्य जगत् ही सब कुछ है। अभौतिक तत्व का अस्तित्व भी उसके अंदर में दोलायमान हो जाता है। वह फिर आगे की सीढ़ी पर चढ़कर जागृति के सूत्र को पकड़ नहीं पाता है।

इसके विपरीत कई साधक अपनी सामर्थ्य–शक्ति को पूरी तरह से व्यवस्थित बनाकर साधना के नियत समय में उच्चतम चरम लक्ष्य को सम्मुख रखते हैं एवं दृढ़ संकल्प के साथ साधना पद्धति को प्रारंभ करते हैं। ऐसी दृढ़ता के साथ वे मूर्छा जनित प्रणालियों के आक्रमणों को साहसपूर्वक झेलते हैं और उनके साथ सफल संघर्ष करते हैं। इस प्रकार अविचलित भाव से वे जागृति की दो–तीन सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ जाते हैं। उस समय कुछ स्थूलावस्थान के रूप में रहने वाली विविध रंगों से अनुरंजित किन्हीं ज्योतियों के देखने का प्रसंग आता है। वहाँ यदि वह साधक सजग नहीं रह पाया और उतनी ही उपलब्धि को ही अपनी समग्र उपलब्धि मानने के भ्रम में पड़ गया तो उस अवस्था में मूर्छाजनित प्रणालियाँ साधक के आंशिक जागृति स्वरूप को दबोच लेती हैं। तब वह आंतरिक अनुभूति रूप समतामय दृष्टि का वरण नहीं कर पाता है।

कुछ साधक अपनी आंतरिक शक्ति के प्रबल जिज्ञासु बनकर साधना के पथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं तथा सद्गुरु का सान्निध्य पाकर उनकी छोटी से छोटी अनुभूति हृदयंगम करने लगते हैं। वे उनके आदेश–निर्देश को उपेक्षा भाव से श्रवण नहीं करते। वे दृश्य वस्तुओं से विलग होकर उनके प्रति बनने वाली आसक्ति को मध्यस्थ भाव के साथ अवलोकन करने की चेष्टा करते हैं। अहर्निश की दिनचर्या का वे प्रतिदिन निरीक्षण–परीक्षण करने का भी ध्यान रखते हैं। वे निरर्थक कार्यों में अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय नहीं करके समभाव के साथ आत्मस्वरूप को आलोकित करने का यत्न करते हैं। कौन पुरुष किस प्रकृति का है तथा किस लहर में बहकर वह कार्य कर रहा है, इस तथ्य को वह साधक अवलोकन करता है तथा उसका कार्य अपनी वृत्ति के प्रतिकूल होने पर भी वह अपनी समभाव की वृत्ति को खंडित नहीं होने देता। उसके साथ यथायोग्य आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" उसका चिंतन बन जाता है। उसी चिंतन धारा में वह साधक सोचता है कि "उसकी आत्मा भी मेरी आत्मा के तुल्य ही है लेकिन वह आनुवांशिक संस्कारों एवं पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से सुषुप्त है। उसकी सुषुप्ति कैसे दूर हो, उसके लिए मैं अपनी स्थिति में रहता हुआ प्रयत्न करूँ। वह जागृत हो सकेगा या नहीं, यह मुझे नहीं सोचना है। मुझे तो इसके निमित्त से अपनी पवित्र दृष्टि का सृजन कर लेना है। वह जितना–जितना मेरे प्रतिकूल व्यवहार करेगा, उतना–उतना मुझे अंतरावलोकन का अवकाश मिलेगा। यदि किसी समय उसके व्यवहार को देखकर मन में झुंझलाहट पैदा हो गई और उसको तिरस्कृत करने के लिए शब्दों का झटका दे दिया तो उसकी दुष्प्रवृत्ति बढ़ेगी ही, साथ ही कुछ समय से प्रवाहित हो रही मेरी आंतरिक शक्ति को जागृत करने वाली धारा भी टूट जायगी। तब उसकी क्षति की अपेक्षा मेरी क्षति अधिक होगी। इस प्रकार यदि बार–बार प्रतिकूल अवस्था को समभाव से मैं सहन करता रहूँगा तो आंतरिक विकास की मेरी अभ्यास पद्धति एक दिन सफल होकर रहेगी।"

इस प्रकार का चिंतन जो साधक करता है और चिंतन अनुरूप अपने आचरण को ढालता रहता है, उसको मूर्छाजनित प्रणालियाँ शनैः शनैः क्षीण प्रभावी होने लगती हैं एवं जागृति के केन्द्र बल पकड़ने लगते हैं। तब उस साधक के चरण मूर्छावस्था से स्थायी जागृति की ओर बढ़ते चले जाते हैं।

आभ्यंतर शक्ति का विकास :

आभ्यंतर शक्ति का सृजन जीवन की समस्त सृजनात्मक वृत्तियों से ही सम्भव होता है। ऐसी वृत्तियों का निर्माण करने के लिए निरंतर उपयोग की आवश्यकता होती है, जो एक सजग प्रहरी के समान सदा सतर्क रहे। इन सृजनात्मक वृत्तियों के प्रतिकूल अन्य जितनी भी वृत्तियाँ उभरकर सामने आएँ, सतत जागृत उपयोग उनकी आंतरिक शक्ति की धारा को खंडित न होने दे। उसका सावधान प्रयत्न रहे कि वह धारा अबाध गति से बहती–बढ़ती चले। वह उस धारा का समुचित संरक्षण भी करे तो समीक्षण दृष्टि से साथ अन्य वृत्तियों का अवलोकन एवं विश्लेषण भी करें। वृत्तियों को उनके गुण–बल के अनुसार विभाजित करके वर्गीकृत कर ले और उनकी क्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे। साधक का ऐसा उपयोग सदा और सर्वत्र जागृत रहे।

सतत जागृत उपयोग की सक्रियता से साधक यह देखने के अपने यत्न में सफल हो सकेगा कि विभिन्न वर्गों की समस्त वृत्तियों में कितनी वृत्तियाँ मूर्छाभाव का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं। समीक्षण दृष्टि से उसे यह भी ज्ञात हो जायेगा कि कौन–सी ऐसी वृत्तियाँ हैं जो ऊपर से तो जागृति के लिए हितावह होती हैं परन्तु वे छल–बल से अमुक दृश्य पदार्थ की आसक्ति की तरफ मुझे धकेल कर मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति को प्रभावित करना चाहती है। वह यह भी देख सकेगा कि यदि उन वृत्तियों से मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति किसी भी रूप में प्रभावित हो गई और मैं सामान्य रूप से भी मूर्छाग्रस्त हो गया तो उपलब्ध की हुई समग्र समतानुभूति भी विच्छिन्न हो जाएगी। यह

देखकर अपने वर्गीकरण में संशोधन करता चला जाता है तथा अपने उपयोग में सावधानी को बढ़ा लेता है।

इस प्रकार आंतरिक अवस्थान में एक प्रकार का संघर्ष चलने लगता है। एक ओर मूर्छाजनित प्रणालियाँ आक्रामक रूप धारण किए रहती हैं तो दूसरी ओर आंतरिक ज्ञान एवं समतानुभूति के केन्द्र उन आक्रमणों को विफल बनाते रहते हैं। इस संघर्ष में आभ्यंतर शक्ति का श्रेष्ठतर विकास सम्पादित होता चला जाता है। आभ्यंतर शक्ति के उत्तरोत्तर विकास के साथ साधक में यह क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह आसक्तिजनित भावों को ज्ञान केन्द्रों तथा उप–केन्द्रों पर से दूर करना आरंभ करता है और जहाँ–जहाँ आसक्ति का रस या रंग उसे दिखाई देता है, वहाँ–वहाँ वह समभाव के रस या रंग का प्रसार कर देता है। इस प्रकार जैसे प्रकाश फैलने पर अंधकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आसक्तिजनित वृत्तियाँ और प्रणालियाँ आंतरिकता के प्रांगन में विलीन हो जाती है।

समभाव एवं समीक्षण दृष्टि :

जब साधक का समभाव प्रबल बन जाता है तब समीक्षण दृष्टि तीव्र एवं सतर्क बन जाती है। वह बाहरी संसर्गों से उत्पन्न होने वाली बाधक वृत्तियों का सफलतापूर्वक परिमार्जन करता रहता है। क्योंकि निरंतर आगे बढ़ते रहने की उसकी अभिलाषा बलवती बन जाती है। वह सोचता है कि मेरा समभाव तथा मेरा समीक्षण दृष्टि अभ्यास के समय में जितनी संवर्धित रहती है, वैसा ही उनका प्रभाव अन्य समय में भी बना रहे, जिससे मैं कभी भी बाधक वृत्तियों के होने वाली आक्रमण को विफल कर सकूँ। जो वृत्ति विषम वृत्ति के साथ मेरे प्रतिकूल चलें, उसकी प्रतिकूलता को भी मैं अपनी सहायिका मानकर कार्य करूँ। उनके प्रति मेरी आभ्यंतर शक्ति का ऐसा प्रभाव हो कि आक्रांता वृत्तियाँ अपना आक्रमण–भाव छोड़कर अस्तित्वहीन होती जाएँ। कदाचित् उन वृत्तियों की जड़ें अधिक गहरी हों और उनमें जल्दी परिवर्तन की सम्भावना न हो तो मैं यह सतर्कता रखूँ कि वे

बाधक वृत्तियाँ मेरे आभ्यंतर विकास में हीन भावना पैदा न कर सकें। समभाव एवं समदृष्टि के साथ में उन बाधक वृत्तियों के आक्रमणों को सहन करता रहूँ तथा जब भी काललब्धि परिपक्व हो जाए, उन वृत्तियों को अस्तित्वहीन बना दूँ।

समभाव एवं समीक्षण दृष्टि के फलस्वरूप जब ऐसा चिंतन साधक का चलता रहेगा तो मन–मानस में दुर्बलता का प्रवेश नहीं हो सकेगा एवं आभ्यंतर विकास निरंतर पुष्ट तथा बलवान् होता चला जाएगा।

क्रोध की विफलता के सूत्र :

क्रोध की चिनगारी भीतर से उठते ही कैसे बुझा दी जाए और क्रोध को बढ़कर बाहर प्रकट हो सकने का अवसर ही न मिले, यह साधक की आभ्यंतर विकास–दशा पर निर्भर करता है। क्रोध की विफलता के सूत्र उसके आंतरिक चिंतन से ही उद्भुत होते हैं।

जब साधक पर विषमता का किसी व्यक्ति अथवा वृत्ति द्वारा आक्रमण हो तो उसके चिंतन की धारा इस प्रकार चलनी चाहिए– "ये विषय वृत्तियोंवाले व्यक्ति मुझ पर अपनी विषमता का प्रयोग करके मेरी सहिष्णुता की परीक्षा करना चाहते हैं। यदि मैं असहिष्णु बन जाऊँगा तो फिर ये अधिक विषम प्रहार करना प्रारंभ कर देंगे। मैं इनके विरोध में जितना क्रोध और रोष करूँगा, तिरस्कार और ताड़ना तक बढूँगा, उतना ही मेरा अमूल्य जीवन–तत्त्व नष्ट होता जायेगा। मेरी सफल साधना छिन्न–भिन्न हो जायेगी, क्योंकि क्रोध जनित क्रिया प्रतिक्रियाओं का क्रम तभी टूटता है जब जीवन ऊर्जा विलुप्त हो जाती है। मेरा क्रोध मेरे ही रस को विषाक्त बना देगा, मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्रों को आग लगा देगा और दीर्घ आयुष्य को क्षति पहुँचाएगा। सद्गुणों की फसल उगाने वाली मेरी मानस भूमि को यह विनाशकारी क्रोध ऊसर बना देगा। मैं अपने सशक्त साधनों से दुनिया को अपने क्रोध की जीत भी दिखा दूँगा तो क्या वह जीत वास्तविक होगी ? क्या मैं उस जीत के बाद अपने ही अंतःकरण में नंगा और उद्दण्ड नहीं दिखाई दूँगा ?

विषम वृत्ति वाले व्यक्तियों को बाहर से पछाड़ करके भी क्या मैं उनकी वृत्ति को पछाड़ सकूँगा ? वह विषम वृत्ति तो तब अधिक प्रतिशोधात्मक बन जायेगी। दूसरी ओर क्या मैं भी विषम वृत्ति की आग में नहीं जलने लगूँगा ? तब फिर ऐसे क्रोध को मैं उठने ही क्यों दूँ ? क्यों न उसकी उठती हुई पहली चिनगारी को ही भीतर ही भीतर बुझा दूँ और भीतर बाहर की अपनी शांति को तनिक भी भंग न होने दूँ ?

क्रोध को विफल बना देने वाला यह सूत्र विषय वृत्ति वाले व्यक्तियों को भी प्रभावित करेगा और उन्हें समवृत्ति की दिशा में मोड़ देगा।

साधक की चिंतन धारा पूर्वकृत क्रोध के परिमार्जन रूप में भी चलती रहनी चाहिए, यथा– "मैंने व्यर्थ ही क्रोध किया तथा रोष के वशीभूत होकर अपने व्यवहार को विकृत बनाया। मैंने इस प्रकार तन–मन को झुलसाया और जीवन को भी दूषित किया। मेरा पारिवारिक गौरव खंडित हुआ, मेरी सामाजिक प्रतिष्ठा आहत हुई और मैं राष्ट्र की गरिमा को भी भूल गया। मैं सिर्फ अपने ही अहंभाव तथा ममत्व में डूब गया और इस प्रकार अपने आभ्यंतर विकास की महान् क्षति के नीचे दब गया। अहंकार के नशे को ही मैं अपनी जीत मान रहा था। यह कैसी विडम्बना थी। यह तो मेरी हार थी, क्योंकि विजय तो उस पुरुष की हुई जिसने मेरे विद्वेषपूर्ण वचनों तथा क्रोध की फुफकारों के उपरांत भी प्रतिकार के रूप में एक शब्द भी नहीं कहा, बल्कि मुस्कराता रहा। उसने तो अपनी समता की शक्ति बढा ली और मैं विषम बनकर समता की शक्ति खो बैठा। यह मैंने भयंकर भूल की है। मैं संकल्प करता हूँ कि भविष्य में कभी ऐसी भूल फिर न हो।"

यह विचारणा क्रोध को विफल करने की बड़ी प्रभावशालिनी सिद्ध होगी। इस विचारणा से आंतरिक संघर्ष में समत्व की शक्तियों को बल मिलेगा तथा विषमताजनक शक्तियाँ दुर्बल बनकर धीरे–धीरे विलीन हो जाएँगी। साधक की यह विचारणा जितनी अधिक पुष्ट

होती जायेगी, वह भविष्य में अधिकाधिक सुदृढ़ भी बनती जायेगी। तब साधक की चिंतन धारा इस रूप में प्रवाहित होने लगेगी कि मैं अंतरंग में रहने वाली विषम प्रवृत्तियों को रूपांतरित कर लूँ, जिससे आसक्ति जनित केन्द्र, उपकेन्द्र तथा उनकी प्रणालियाँ सक्रिय न हो सकें और न वे मेरे शरीर तथा मेरी मांसपेशियों को उत्तेजित बना सकें। बाहरी प्रबल निमित्त पाकर भी ये प्रणालियाँ निष्क्रिय बन जाएँ। घर में बारूद भले भरा हो, अगर बाहर का कोई निमित्त उसे भड़काने वाला न पैदा हो तो उस बारूद के घर का कोई बिगाड़ नहीं हो सकता है। बाहर के निमित्त से ही बारूद भड़क कर घर को नष्ट–भ्रष्ट कर सकता है। अतः मैं किसी बाहरी निमित्त को आग की चिनगारी न बनने दूँ। साथ ही बारूद रूपी विषम वृत्तियों को मैं सम में रूपांतरित करना आरंभ कर दूँ ताकि घर को कभी कोई खतरा न हो। तब मेरी आभ्यंतर शक्ति विशाल सागर का रूप ले लेगी, जिसमें कितने ही आग के गोले फेंके जाएँ, सागर का कुछ नहीं बिगड़ेगा और वे आग के गोले बुझकर फेंकने वालों को शांति की राह दिखा सकेंगे। जब मैं रूपांतरण को पूर्णतया सफल बना दूँगा तब क्रोध को पूरी तरह विफल भी कर दूँगा और सच्चा "कोह दंसी", भी बन जाऊँगा। यह मेरी सच्ची विजय होगी।

इस प्रकार का समीक्षण ध्यान यदि साधक निरंतर करने लगे तो अल्पावधि में ही वह क्रोध–समीक्षण कर लेगा तथा क्रोधजयी बन जाएगा।

क्रोध की तात्कालिक विफलता के भी पाँच सूत्र बताये गये हैं–

1. एकांत में चले जाएँ

क्रोध के भड़कते ही उठकर एकांत में चले जाएँ ताकि क्रोध को बरसने का अवकाश नहीं रहेगा। जब कोई लक्ष्य सामने नहीं रहेगा तो स्वतः ही वह शांत हो जाएगा।

2. मौन हो जाएँ

उस समय मौन धारण कर लें ताकि वाचिक एवं कायिक प्रभाव

तो समाप्त हो ही जाएगा।

3. क्रोध विरोधी चिंतन आरंभ कर दें

तब मानसिक संकल्पों को भी उत्तेजित होने से रोकने के लिए क्रोध विरोधी चिंतन आरंभ कर दें ताकि क्रोध का विस्तार सभी द्वारों से बंद हो जाए।

4. कार्य में प्रवृत्त हो जाएँ

अपेक्षाकृत शांत भाव आते ही किसी भी कार्य में लग जाएँ ताकि क्रोध का अवशिष्ट प्रभाव भी थोड़े समय में समाप्त हो जाए।

5. श्वास निरोध क्रिया करें

शरीर और मन पर से क्रोध के बाहरी विषाक्त प्रभाव को दूर करने के लिए दो चार मिनट तक श्वास निरोध क्रिया संचालित करें ताकि (स्वाभाविक स्थिति उत्पन्न हो जाए) हल्कापन लौट आए।

निर्विकार अंतर्दृष्टि

निर्विकार अंतर्दृष्टि ऐसी दृष्टि को कहेंगे, जिसमें विकार का लेश मात्र भी न हो। उसके सामने चाहे जितना विकारपूर्ण प्रदर्शन उपस्थित हो जाए, इन्द्रियों के माध्यम से व्यक्ति के भीतर में सुषुप्त विकार भले स्मृति–पटल पर उभरने लगें, पर वे विकार कार्य रूप में परिणत न हो सकें। उनको कार्यान्वित न होने देने की क्षमता जिस अनुभूतिमय दृष्टि में पैदा हो गई है, वही निर्विकार दृष्टि का रूप ले लेती है, क्योंकि वह दृष्टि उन विकारपूर्ण दृष्टियों की प्रचुरता में से ही विकसित होती है। इसलिए विकारों के क्या और कैसे दुष्परिणाम होते हैं, इसका वह दृष्टि प्रत्यक्ष अनुभव ले चुकी होती है। पूर्वानुभव के कारण ही ऐसी निर्विकार दृष्टि विकारपूर्ण वृत्तियों का कुप्रभाव शरीर की मांस–पेशियों पर नहीं होने देती है। स्मृति–पटल पर ही वे विकार संशोधित परिवर्तित हो जाते हैं। उनमें से निस्सार वृत्तियाँ विलग हो जाती हैं तथा सारपूर्ण वृत्तियाँ उसी अनुभूति की पुष्टिकारक बन जाती हैं।

प्रतिदिन नियत समय पर एकाग्रतापूर्वक यत्न किया जाए तो ऐसी निर्विकार अंतरदृष्टि का शनैः शनैः विकास किया जा सकता है। प्रारंभ में विकारी वृत्तियों को अनावृत करने के लिए परिपूर्ण निर्विकारी तत्त्व का ध्यान करना होता है। जिस केन्द्र पर उसका ध्यान किया जाए, उसी पर प्रतिदिन नियत समय पर ध्यान लगाने की आवश्यकता होती है। प्रारंभ में एकाग्रता जमने में कठिनाई आती है, क्योंकि वहाँ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है। परन्तु साधक दृढ़ संकल्प के साथ परिपूर्ण उत्साह से भरकर उपयोग को वहाँ टिकाये रखने की कोशिश करता है तो कुछ समय बाद वहाँ उनकी काली छाया दिखने लगती है, जैसी अंधकार से परिपूर्ण रात्रि के समाप्त होने के समय दिखाई देती है, जिसे देखते–देखते वही कालिमा धीरे–धीरे लालिमा में रूपांतरित होती हुई प्रतीत होती है। तब ध्यान के समय में कभी काली छाया तो कभी लालिमा आती जाती रहती है। फिर धीरे–धीरे कालिमा हल्की होती जाती है तथा लालिमा चमकदार बनती जाती है। उसी चमक की वृद्धि के साथ फिर सूर्य की किरणें दिखाई देती हैं। उस केन्द्र पर काले रंग के बाद उसके स्थान पर नीला तथा फिरा हरा रंग प्रकट होता है। यहा हरा रंग गहरा होकर हरीतिमा के समान मनोहर हो जाता है। तदनन्तर विचित्र प्रकार के रंगों की स्थिति प्रकट होती रहती है और उन्हीं के बीच में जाज्वल्यमान ज्योति प्रतिभासित होती है। उसके पश्चात् यदि साधक धैर्य का सम्बल लेकर गम्भीरतापूर्वक इनको पचाता हुआ दीपक के तुल्य लालिमा में प्रवेश करने की योग्यता अर्जित कर लेता है तो निर्विकार अंतरदृष्टि की किरणें स्पष्ट रूप से दृश्यमान होने लगती हैं।

यदि साधक इस अभ्यास क्रम को बिना किसी थकान के बढ़ाता रहे और अंकुर के रूप में प्रकट हुई निर्विकार–दृष्टि का प्रतिदिन संपोषण एवं संवर्धन करता रहे तो उसकी निर्विकार दृष्टि निरंतर बढ़ती रहती है। उसका प्रभाव तब अन्य केन्द्रों पर भी पड़ने लगता है। पहले पहल कुछ समय तक उसमें उपयोग स्थिरता प्राप्त करनी होती है। फिर कुछ काल के पश्चात् साधना के नियत समय से भी आगे परिपूर्ण

समय तक उपयोग की स्थिरता स्थायी बन जाती है। उसके बाद उसी अभ्यास क्रम से उसमें प्रगाढ़ आनन्दानुभूति एवं शत्रु–मित्र के प्रति समभाव की वृत्ति इतनी सु–व्यवस्थित हो जाती है कि साधना–काल के अतिरिक्त समय में भी उसी प्रसन्नता के साथ निर्विकार दृष्टि का अनुभव होने लगता है। साधक इसी गति से आगे बढ़ता रहे तो चलते–फिरते, खाते–पीते, उठते–बैठते, सोते–जागते आदि प्रत्येक अवस्था में उसे निर्विकार दृष्टि की सुखद अनुभूति होने लगेगी। तब एक प्रकार से साधक का जीवन उन अनुभूतियों के साथ एकमेक हो जाता है।

फिर उस साधक के सामने कोई भी प्रसंग आए, कितनी ही विकट परिस्थितियाँ पैदा हों, कैसा भी दूषित वातावरण निर्मित हो गया हो, उसकी आनन्दानुभूति में किसी प्रकार की स्खलना नहीं पहुँच सकती। साधक अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लेता है। वह अवस्था उसके जीवन को सफलीभूत बनाने में सक्षम हो जाती है। उस निर्विकार दृष्टि में निर्विकार तत्त्व ही भासित होने लगते हैं। विकारी तत्त्वों के भीतर में भी वह दृष्टि निर्विकार अंश को ही सम्मुख रख कर उसका प्रकटीकरण करती है। अतएव धनीभूत विकारों में भी वह यत्किंचित् निर्विकार तत्त्व ही ग्रहण करती है। जैसे रत्नों का वास्तविक पारखी काँच के टुकड़ों में से रत्न को खोज निकालता है या कंकड़ों के बीच मिट्टी से लिप्त होने पर भी रत्न को खोज लेता है अथवा कीचड़ में दबे रत्न को भी पहिचान लेता है। परन्तु उन काँच के टुकड़ों, मिट्टी–कंकड़ों या कीचड़ से अपने आपको प्रभावित नहीं होने देता है। उसकी दृष्टि पवित्र रत्न को खोजने में ही लगी रहती है। अतएव दुर्गंधमय अशुचि से लिपटे रत्न को भी वह उठा लेता है, पर अशुचि से घृणा और विद्वेष नहीं करता, वैसे ही निर्विकार दृष्टि से सम्पन्न उपर्युक्त प्रकार का साधक गंदे से गंदे शरीर वाले व्यक्ति को देखकर भी उससे किंचित् मात्र भी घृणा नहीं करता, चाहे वह भयंकर कुष्ठ रोग से ही पीड़ित क्यों न हो। उसके शरीर में स्थित निर्विकार तत्त्व को ही महत्व देता है। रोगों की दुर्गंधमय अवस्था को देखकर भी

वह अपनी निर्विकार दृष्टि में किसी भी प्रकार की घृणा विद्वेषादि की विकृति नहीं आने देता है। वह उसकी शारीरिक अवस्था के कारणों को तटस्थ भाव से चिंतन में लेता है। वह सोचता है कि इस आत्मा ने पूर्व में घृणा, विद्वेष, क्लेश आदि विकारपूर्ण वृत्तियों से अपने अंतःकरण को कालिमामय बनाया होगा जिसके फलस्वरूप ही उसके ऐसे कर्मों का बंधन हुआ। अब उन्हीं कर्मों के उदय का प्रसंग आया लगता है। यह आत्मा इन रोगों की उपस्थिति में दुःख पा रही है और हाय–विलाप करते हुए कर्मों का भोग ले रही है एवं दुर्ध्यान करते हुए पुनः वैसे ही कर्मों का बंधन कर रही है। अज्ञानी आत्माओं के लिए ऐसा सिलसिला चालू रहता है। रोग की रोग से वृद्धि होती है, क्योंकि रोग के हेतुभूत भाव में विषमता होने से कर्म बंधन भी पुनः वैसे ही होते हैं। फिर उन कर्मों का उदय आने पर पुनः वैसा ही कुध्यान चलता है। उस समय अधिक क्लिष्टता आने से कभी–कभी पूर्वापेक्षा भी अधिक जटिल कर्मों का बंध हो जाता है। यह मिथ्यात्वी आत्माओं की दशा की अनादिकालीन शृंखला चक्रव्यूह की तरह अटूट रूप से चलती रहती है।

कभी सत्पुरुषों के सम्पर्क से, सत्शास्त्रों के वाचन–मनन से अथवा काललब्धि की प्राप्ति से ऐसी आत्माओं को सद्बोध प्राप्त हो सकता है। उस सद्बोध में सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति के साथ भावों का परिमार्जन होने लगता है। वे तब अपने आप में स्थिर होने की कला भी सीख लेती है और उस अनादिकालीन मिथ्यात्व दशा की शृंखला को तोड़कर स्व–स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगती हैं। जिन कारणों से कर्म बंधन का सिलसिला चल रहा था उन कारणों को तब वे समाप्त करने की कोशिश करती हैं। फिर वे अपनी भावशुद्धि, वचनशुद्धि तथा आचरण शुद्धि भी करती रहती हैं।

शांति और प्रेम का वायुमंडल

क्रोध–समीक्षण एवं क्रोध–त्याग के अभ्यास क्रम के पश्चात् साधक के चारों ओर का वायुमंडल शांति और प्रेम के अनुभवों से

ओत–प्रोत होने लगता है। अपने अभ्यास क्रम में वह व्यक्ति क्रोध का अविवेकपूर्ण दमन नहीं करता, बल्कि पूरे विवेक एवं सद्भाव से उसका शमन करता है। वह समतापूर्वक चिंतन करता है कि विकृत अथवा विषय निमित्तों को देखकर या उनके समींप में रहकर भी मैं अपने परिणामों में विद्वेष और कलुषिता को नहीं आने दूँगा– चाहे वे मुझे कितना ही तिरस्कृत करें, अपमानित करें और मेरे प्रति घोर अन्याय का व्यवहार करें। मैं अपने समभावों को तनिक भी खंडित नहीं होने दूँगा। मैं तो उनके प्रति अपनी पूर्ण सद्भावना ही व्यक्त करूँगा। मेरे शब्द मधुर ही रहेंगे तथा कार्य नीतिपूर्ण ही। जैसे भी होगा मैं उन्हें भी संशोधित करने का पूरा प्रयत्न करता रहूँगा। मैं उभय पक्ष का हित ही साधूँगा, जिससे अशुभ भाव जनित कर्म बंधन न हों।

इस रूप में, शांति, प्रेम एवं सौहार्द का वायुमंडल बनने से उभय पक्ष के साथ–साथ अनेकानेक व्यक्तियों का भी हित–सम्पादन हो सकेगा। कल्पना कीजिए– एक व्यक्ति घी का पात्र लेकर चल रहा है और दूसरा व्यक्ति उसे उत्तेजित करके उस अमृत तुल्य घी को मिट्टी में मिला देना चाहता है। तो क्या पहले व्यक्ति को यह विवेक नहीं रखना चाहिए कि वह अपने घी को बरबाद होने से बचाले ? यह तो बाह्य पदार्थ घी की बात है किन्तु क्रोध से उत्तेजित होकर कोई भी व्यक्ति आसानी से इतना अविवेकी बन जाता है कि अपनी मानसिक, वाचिक एवं कायिक शक्ति को तो नष्ट करता ही है, साथ ही अपने आस–पास के वायुमंडल को भी घृणा, विद्वेष तथा शत्रुता से कलुषित बना देता है। अतः क्रोध की उत्तेजना में बुद्धि को निष्क्रिय नहीं बना देना चाहिए।

अपनी बुद्धि का सदुपयोग करते हुए पूरी समझ के साथ क्रोध का शमन करते रहना चाहिए। क्रोध शमन के तात्कालिक पाँच उपाय बताये गये हैं–

1. पूर्व प्रतिज्ञा का विचार

क्रोध न करने तथा समभाव रखने की जो पहले प्रतिज्ञा की हुई

वह अपनी निर्विकार दृष्टि में किसी भी प्रकार की घृणा विद्वेषादि की विकृति नहीं आने देता है। वह उसकी शारीरिक अवस्था के कारणों को तटस्थ भाव से चिंतन में लेता है। वह सोचता है कि इस आत्मा ने पूर्व में घृणा, विद्वेष, क्लेश आदि विकारपूर्ण वृत्तियों से अपने अंतःकरण को कालिमामय बनाया होगा जिसके फलस्वरूप ही उसके ऐसे कर्मों का बंधन हुआ। अब उन्हीं कर्मों के उदय का प्रसंग आया लगता है। यह आत्मा इन रोगों की उपस्थिति में दुःख पा रही है और हाय–विलाप करते हुए कर्मों का भोग ले रही है एवं दुर्ध्यान करते हुए पुनः वैसे ही कर्मों का बंधन कर रही है। अज्ञानी आत्माओं के लिए ऐसा सिलसिला चालू रहता है। रोग की रोग से वृद्धि होती है, क्योंकि रोग के हेतुभूत भाव में विषमता होने से कर्म बंधन भी पुनः वैसे ही होते हैं। फिर उन कर्मों का उदय आने पर पुनः वैसा ही कुध्यान चलता है। उस समय अधिक क्लिष्टता आने से कभी–कभी पूर्वापेक्षा भी अधिक जटिल कर्मों का बंध हो जाता है। यह मिथ्यात्वी आत्माओं की दशा की अनादिकालीन श्रृंखला चक्रव्यूह की तरह अटूट रूप से चलती रहती है।

कभी सत्पुरुषों के सम्पर्क से, सत्शास्त्रों के वाचन–मनन से अथवा काललब्धि की प्राप्ति से ऐसी आत्माओं को सद्बोध प्राप्त हो सकता है। उस सद्बोध में सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति के साथ भावों का परिमार्जन होने लगता है। वे तब अपने आप में स्थिर होने की कला भी सीख लेती है और उस अनादिकालीन मिथ्यात्व दशा की श्रृंखला को तोड़कर स्व–स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगती हैं। जिन कारणों से कर्म बंधन का सिलसिला चल रहा था उन कारणों को तब वे समाप्त करने की कोशिश करती हैं। फिर वे अपनी भावशुद्धि, वचनशुद्धि तथा आचरण शुद्धि भी करती रहती हैं।

शांति और प्रेम का वायुमंडल

क्रोध–समीक्षण एवं क्रोध–त्याग के अभ्यास क्रम के पश्चात् साधक के चारों ओर का वायुमंडल शांति और प्रेम के अनुभवों से

ओत–प्रोत होने लगता है। अपने अभ्यास क्रम में वह व्यक्ति क्रोध का अविवेकपूर्ण दमन नहीं करता, बल्कि पूरे विवेक एवं सद्भाव से उसका शमन करता है। वह समतापूर्वक चिंतन करता है कि विकृत अथवा विषय निमित्तों को देखकर या उनके समींप में रहकर भी मैं अपने परिणामों में विद्वेष और कलुषिता को नहीं आने दूँगा– चाहे वे मुझे कितना ही तिरस्कृत करें, अपमानित करें और मेरे प्रति घोर अन्याय का व्यवहार करें। मैं अपने समभावों को तनिक भी खंडित नहीं होने दूँगा। मैं तो उनके प्रति अपनी पूर्ण सद्भावना ही व्यक्त करूँगा। मेरे शब्द मधुर ही रहेंगे तथा कार्य नीतिपूर्ण ही। जैसे भी होगा मैं उन्हें भी संशोधित करने का पूरा प्रयत्न करता रहूँगा। मैं उभय पक्ष का हित ही साधूँगा, जिससे अशुभ भाव जनित कर्म बंधन न हों।

इस रूप में, शांति, प्रेम एवं सौहार्द का वायुमंडल बनने से उभय पक्ष के साथ–साथ अनेकानेक व्यक्तियों का भी हित–सम्पादन हो सकेगा। कल्पना कीजिए– एक व्यक्ति घी का पात्र लेकर चल रहा है और दूसरा व्यक्ति उसे उत्तेजित करके उस अमृत तुल्य घी को मिट्टी में मिला देना चाहता है। तो क्या पहले व्यक्ति को यह विवेक नहीं रखना चाहिए कि वह अपने घी को बरबाद होने से बचाले ? यह तो बाह्य पदार्थ घी की बात है किन्तु क्रोध से उत्तेजित होकर कोई भी व्यक्ति आसानी से इतना अविवेकी बन जाता है कि अपनी मानसिक, वाचिक एवं कायिक शक्ति को तो नष्ट करता ही है, साथ ही अपने आस–पास के वायुमंडल को भी घृणा, विद्वेष तथा शत्रुता से कलुषित बना देता है। अतः क्रोध की उत्तेजना में बुद्धि को निष्क्रिय नहीं बना देना चाहिए।

अपनी बुद्धि का सदुपयोग करते हुए पूरी समझ के साथ क्रोध का शमन करते रहना चाहिए। क्रोध शमन के तात्कालिक पाँच उपाय बताये गये हैं–

1. पूर्व प्रतिज्ञा का विचार

क्रोध न करने तथा समभाव रखने की जो पहले प्रतिज्ञा की हुई

हो उस पर पुनः पुनः विचार करें।

2. पूर्व प्रतिज्ञा दृष्टि में लें

विचार के साथ उस प्रतिज्ञा को स्वयं दृष्टा बनकर देखें।

3. प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करें

जब तक क्रोध शांत न हो जाए, उस प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करते रहें तथा कदाचित् क्रोध उत्पन्न हो गया हो तो दण्ड–प्रायश्चित लेने का संकल्प करें।

4. मन और कार्य की दिशा बदलें

मन में अन्यान्य शुभ विचारों को जागृत करें तथा कोई नया शुभ काम हाथ में ले लें ताकि चित्तवृत्ति परिवर्तित हो जाए एवं क्रोध का विस्मरण होकर शमन हो जाए।

5. पंचपरमेष्ठि का ध्यान करें

नेत्र बंद करके नमस्कार महामंत्र का एवं पंच–परमेष्ठी का एकाग्रतापूर्वक जाप करना आरंभ कर दें।

क्रोध त्यागें, अजातशत्रु बनें

जिस पुरुष ने मानव तन के महत्व तथा आत्मा को समझा है, चिंतन–मनन के क्षणों में इन तत्वों की उपलब्धि करने का निर्णय लिया है, उसी तन–मन से उनके साक्षात्कार की संभावना मान ली है तथा अपने ध्यान योग को उस दिशा में मोड़ लिया है, वह साधक अपनी साधना की सिद्धि एक न एक दिन पा लेता है। इस साधना का आरंभ होता है क्रोध के त्याग से, जो प्रगति करती हुई सभी विषय–कषायों को समाप्त करती है तथा समभाव, समदृष्टि एवं समीक्षण ध्यान से विभूषित बनकर साधक को अजातशत्रु बना देती है।

मानव तन के भीतर रहा हुआ आत्म–तत्व मूल रूप से अविनाशी चिदानंद–स्वरूप तथा अजातशत्रु स्वभावी है। इस तत्त्व के मूल रूप

को प्रकाशित करना ही साधना का चरम लक्ष्य है। जब लक्ष्य स्पष्ट और अविनाशी हो और साधना एकनिष्ठ, तब सिद्धि स्वयमेव समीप चली आती है। नाशवान पदार्थों के प्रति ममत्व का जब परित्याग किया जाएगा तो क्रोध के प्रकट होने के अवसर ही प्रायः समाप्त हो जाएँगे। यदि नाशवान से विरक्ति होगी तो अविनाशी के प्रति ध्यान अधिक केन्द्रित होगा। उस अविनाशी स्वभाव की परिणति तब मानस तंत्र पर उभारनी होगी। तब उसके अनुरूप, निर्मित होने वाली भावनाओं के प्रभाव से वाणी "माहणों" के रूप में अभिव्यक्ति होगी। तब वही भावनाएँ कार्यों में उतर कर सब ओर प्रेम की वर्षा करने लगेंगी। समूचे वायुमंडल में मैत्री की सुगंध फैल जाएगी। विभिन्न पर्यायों में परिणत आत्माएँ "आत्मवत्" प्रतीत होंगी और शत्रु भाव उत्पन्न ही नहीं होगा। जब कोई शत्रु नहीं होगा तो यही कहा जायेगा कि सभी शत्रु विजित कर लिए गये हैं। इस अवस्था में ही किसी को अजातशत्रु कहा जा सकता है।

अभय बनें, अभय बनावें

अविनाशी आत्मस्वरूप की साधना से जब अजातशत्रुत्व प्राप्त हो जाता है तो वह साधक पूर्ण रूप से भय रहित हो जाता है। अविनाशित्व के साथ मृत्यु का ही भय नहीं। अतः साधक सर्वप्रकारेण अभय बन जाता है। साधक के मानस तंत्र में व्याप्त अभय भावना तब व्यापक रूप से क्रियाशील बन जाती है। वह भावना विनाश रूप परिणति से भयाक्रांत अवस्था वाले प्राणियों को अभय दान प्रदान करने के रचनात्मक कार्य में परिणत होती है। मानस तंत्र की उभय प्रणालियाँ उस समय दूसरों को भी इस प्रकार के कार्य की प्रेरणा देती हैं एवं अभय भावना के अनुरूप पर्यायों को जानकर प्रफुल्लित होती हैं।

अभय भावना की यही परिणति वाचिक शक्ति में परिवर्तित होकर समस्त आत्माओं को उद्‌बोधन देती है। उसके उद्‌वोधन का यह आशय होता है कि "मैं स्वयं नाश के भय को उपस्थित नहीं

करूँगी और दूसरों के माध्यम से भी ऐसा नहीं करवाऊँगी। अतः तुम सभी मेरी ओर से पूरी तरह निर्भय रहो।" अंतरात्मा की ऐसी नाद-ध्वनि विश्व में रहने वाले समस्त प्राणियों के मानस तंत्र को प्रभावित करती है। इस क्रिया की तदनुकूल प्रतिक्रिया उस साधक के साध्य के अनुरूप साधन में सहायक होगी क्योंकि सृष्टि के अंतर्तन्त्र में सूक्ष्म रूप से क्रिया और प्रतिक्रिया बनती रहती है, यथा ध्वनि की प्रतिध्वनि ध्वनि के अनुरूप ही होती है।

साधनों की प्रामाणिकता

साधन का दूसरा पक्ष प्रामाणिकता है। इसके बिना साधनों की समुचित पालना हो ही नहीं सकती। साधक द्वारा सर्वदा अपनी मर्यादाओं का उपयोग रखना तथा साधना को साध्याभिमुखी बनाये रखना अंतःकरण की साक्षी के बिना संभव नहीं होता है। यह अंतःकरण की सच्ची साक्षी ही साधनों की प्रामणिकता को बनाये रखती है। अंतःकरण की प्रामणिकता वाचिक और कायिक रूपों में ढलकर एक साधक के व्यक्तित्व को प्रामाणिकता से प्रतिष्ठित बनाती है।

इस रूप में प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा उस साधक का रक्षा कवच बन जाती है, क्योंकि जब कभी उसकी साधना में कोई दुर्बलता के क्षण आते हैं तो उसके मन में विचार उठता है कि यदि वह अपनी दुर्बलता को प्रारंभ में ही समाप्त नहीं कर देगा तो उसकी प्रामाणिकता को ठेस पहुँचेगी। प्रतिष्ठित प्रामाणिकता का निर्वाह उसकी सर्वतोमुखी सुदृढ़ता का कारणभूत बन जाता है। ऐसी सुदृढ़ता ही साधना के सघन वृक्ष को मूल रूप से सिंचन करने वाली सहायिका होती है। इस सिंचन के द्वारा उसकी साधना सिद्धि रूपी फल प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी बनती है।

अतएव साधक को अपने साधन रूप में उपार्जित प्रामाणिकता को प्रथम पक्ष के मानसिक धरातल पर अखंडित रखना चाहिए। साथ ही बाह्य जीवन में भी सभी पक्षों में प्रामाणिकता की पूर्ण आवश्यकता

रहती है। इस प्रामाणिकता से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निखार सकता है तो पारिवारिक जीवन में भी प्रामाणिकता का संचार करता हुआ सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में प्रामाणिकता का महत्वपूर्ण वायुमंडल निर्मित कर सकता है। प्रामाणिकता का दीपक आभ्यंतर एवं बाह्य दोनों प्रांगणों को प्रकाशित करने वाला है। इस प्रकाश के बिना किसी भी क्षेत्र में परिपूर्ण सफलता नहीं मिल सकती है।

जे कोह दंसी, से माण दंसी

समीक्षण–ध्यान एवं समतामय आचरण के बल पर एक साधक अपनी साधना के अनुरूप क्रोध संबंधी स्कंधों का अवलोकन कर सकेगा। वह वीतराग देव की वाणी के अनुसार क्रोध के दृष्टा के रूप में "कोह दंसी" होगा। जब क्रोध को देखने की क्षमता उस साधक में जागृत हो जाएगी, तब वह क्रोध रूप कार्य की जो समर्थ कारण–सामग्री होती है, उसका भी समीक्षण कर लेना।

जैसे क्रोध के स्कंध आपेक्षिक दृष्टि से अति सूक्ष्म होते हैं, वैसे ही मान के स्कंध भी अति सूक्ष्म होते हैं। अतः जो साधक "कोह दंसी" बन जाता है, वह "माण दंसी" भी बन जाएगा। इसी कारण शास्त्र में कहा गया है "जे कोह दंसी, से माण दंसी" अर्थात् जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है। क्रोध की समर्थ कारण–सामग्री को देख लेने के साथ ही वह साधक मान की समर्थ कारण सामग्री को भी देख लेता है। तलघर में उतरने के लिए जैसे सीढ़ियों की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानव जीवन की गहराइयों में प्रवेश करने के लिए क्रोध समीक्षण को पहली सीढ़ी के रूप में ले सकते हैं।

क्रोध–समीक्षण की पहली सीढ़ी पर जब साधक का पांव जम जाए, तब वह दूसरी पर उतरने का उपक्रम करेगा। अतः जिस साधना के बल पर वह पहली सीढ़ी पर सफलतापूर्वक उतर पाया था, निश्चित रूप से दूसरी सीढ़ी पर उतरने के लिए उसकी साधना उसके अनुरूप अधिक समुन्नत बननी ही चाहिए। पहली सीढ़ी से पाँव उठाने तथा उसके दूसरी सीढ़ी पर जमने के बीच की साधना को इस रूप में शास्त्रे

ने मान्यता दी है कि वह क्रोध समीक्षण से मान समीक्षण की ओर बढ़ रही है। उस समय में क्रोध समीक्षण की सम्पूर्ति होती है तथा मान समीक्षण का पूर्व प्रारंभी क्षण। यही "जे कोह दंसी, से माण दंसी" की सूक्ति का साधना–पक्ष है।

पहली सीढ़ी से पैर उठाकर दूसरी सीढ़ी पर उसे जमाने के बीच का समय वस्तुतः साधना की कड़ी कसौटी का होता है। उन क्षणों में पाँवों के लड़खड़ा जाने की काफी संभावना रहती है। उस चलायमान अवस्था में यदि साधक डगमगा गया और अपने को व्यवस्थित रूप से सम्भाल न पाया तो उसकी प्रगति या तो अवरुद्ध हो जाएगी अथवा उस चलायमान अवस्था में वह पुनः पहली सीढ़ी पर आ जाएगी। वैसी स्थिति में उसकी प्रगति रुक जायेगी। अतः साधक को चाहिए कि वह अंतरिम काल में अपनी निर्विकार समीक्षण दृष्टि को अधिक तीक्ष्ण बनाए। पहली सीढ़ी पर रहते हुए ही दूसरी सीढ़ी के लिए व्यवस्थित तैयारी करे जिससे कि वह मान संबंधी स्कंधों को कार्य–कारण भाव के साथ देखता हुआ धैर्य के साथ दूसरी सीढ़ी के लिए अपने पाँव उठाये। इस अनुसंधान का संकेत प्रभु महावीर ने उपर्युक्त सूक्ति के माध्यम से आचारांग सूत्र में दिया है और बतलाया है कि जो क्रोध का दृष्टा होगा, वही पुरुष मान का दृष्टा होगा। उसी का नकारात्मक रूप होगा कि जो क्रोध का दृष्टा नहीं है, वह मान का दृष्टा नहीं है।

क्रोध एक ऐसा कोहरा (ध्रुवर) है कि उसमें से दूर की वस्तु को देख लेना कठिन होता है। कभी–कभी तो बिल्कुल पास की वस्तु भी नजर नहीं आती और सामान्यतया जिस रूप में वस्तु दिखनी चाहिए, कोहरे के कारण वह वस्तु उस रूप में नहीं दिखाई देती। जितनी दिखती है, वह भी धूमिल सी दिखाई देती है। अतः दूर की वस्तु को देख लेने का तो प्रसंग ही नहीं रहता। वैसे ही अज्ञानी मानव का जीवन क्रोध रूपी कोहरे से प्रायः व्याप्त रहता है। जब सूर्य की किरणें अधिक तेज बनकर उस कोहरे पर गिरती हैं, तब कोहरे का असर घटने लगता है। वैसे ही आत्मा रूपी सूर्य की निर्विकार समीक्षण दृष्टि रूप किरणें अधिक प्रखर बनेंगी तभी क्रोध रूपी कोहरे का घनत्व कम

हो सकेगा, बल्कि वह सिमट कर मिटने लगेगा। वैसी स्थिति में जीवन संबंधी समीप का स्वरूप भी कुछ स्पष्ट दिखने लगेगा। इस प्रकार क्रोध के हटे बिना आगे की यात्रा सफल नहीं हो सकेगी। इस तथ्य को ध्यान में रखकर साधक उभय रूप साधना को अखंडित रखते हुए आगे चलने का प्रयास करेगा तो वह सीढ़ी–दर–सीढ़ी बढ़ता रह सकेगा।

कार्य का उपादान कारण छोटा होता है। कारण को देखने से अज्ञात व्यक्ति सहसा यह निर्णय नहीं कर सकता है कि यह कितने विशाल कार्य का कारण बन सकता है। वट वृक्ष का बीज, वट वृक्ष का उपादान कारण है। वट वृक्ष रूपी कार्य की विशालता की तुलना में वह बहुत ही छोटा होता है। वह छोटा–सा बीज रूप कारण वट वृक्ष कार्य में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार क्रोध स्कंध रूप कार्य का कारण प्रायः मान स्कंध होता है। जब मान स्कंधों से एक वृत्ति बनती है तो वह वृत्ति अहं रूप विकार से ओत–प्रोत होती है। इसका व्यापक रूप सारे शरीर में रहता है और मस्तिष्क का मुख्य केन्द्र अपने उप केन्द्रों की सहायता से मान वृत्ति का संचालन करता है। यह वृत्ति क्रोध की अपेक्षा सूक्ष्मता के साथ विशेष रूप से सक्रिय होती है, परन्तु इसकी सक्रियता सहसा ज्ञात नहीं होती, क्योंकि यह वृत्ति शिकारी बिल्ली की तरह चुपचाप अपनी खुराक ग्रहण करने में तत्पर होती है। इसे चारों ओर से अपनी पुष्टि की चाह रहती है। प्रतिक्षण यह लालसा बनी रहती है कि सारी दुनिया की मान प्रतिष्ठा मुझे ही मिल जाए। यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार को इसी तीव्रता से देखती रहती है कि उसका व्यवहार मेरे सम्मान के अनुकूल है या प्रतिकूल ? प्रतिकूलता की समझ के साथ ही उसका क्रोध भड़क उठता है। इस रूप में मान भी क्रोध का कारण बन जाता है।

अतः साधक "कोह दंसी" से "माण दंसी" बनते समय अपनी साधना के संबंध में पूरी सतर्कता रखे तथा अपनी अन्तरयात्रा को प्रगतिशील बनावे।



मान-समीक्षण

जे कोह दंसी से माण दंसी

बाह्य जीवन की अपेक्षा आंतरिक जीवन अतीव सुकोमल एवं लचकीला होता है। उसमें भी जहाँ तक मानस–तंत्र का संबंध है, उससे समुत्पन्न होने वाली तरंगें अत्यधिक सुकोमल होती है। वे तरंगें शब्दोल्लेख से परे हैं। उनका यथार्थ मूल्यांकन अभिव्यक्त करने में शब्द समर्थ नहीं है। वृत्तियाँ क्षण–क्षण में परिवर्तित होती रहती हैं। ऐसे वृत्तियों को भी सशक्त बनाने वाली एक ऐसी वृत्ति है कि उसकी समुपस्थिति में अन्य वृत्तियाँ भी लचक नहीं खा सकतीं। जब वृत्तियाँ ही लचक नहीं खा सकती हैं तो मानस–तंत्र एवं शरीर का नम्र होकर झुकना कठिनतर बन जाता है। उस वृत्ति से अधिक विकार उत्पन्न होते हैं, जिनमें अत्यधिक प्रचलित एक विकार का नाम अभिमान है।

अभिमान की अवस्था जब अत्यंत दृढ़ीभूत बनती है, उस समय उसे लचकीला बनाने में कोई विरले व्यक्ति ही कामयाब हो सकते हैं। यह वृत्ति जब पाषाण–स्तंभ की भाँति बन जाती है, तब उस वृत्ति वाला पुरुष इतना अकड़बाज बन जाता है कि जिसे झुकने का नाम सुनना भी नहीं सुहाता, झुकना–नम्रता धारण करना तो दूर की बात रही। उस अभिमान वृत्ति से मानस–तंत्र पूर्ण रूप से प्रभावित बन जाता है। उस समय विनयादि सद्गुण लुप्त हो जाते हैं। मानव के आंतरिक स्वरूप में स्वाभाविक कोमलता होते हुए भी मानवृत्ति मानो चट्टान से अधिक कठोर हो जाती है। इस कठोर वृत्ति के कारण मानव अपने आपको विनष्ट करना पसंद कर लेगा, पर झुकना पसंद नहीं करेगा। इसी निष्ठुर–कठोर वृत्ति के कारण व्यक्ति अनेक दुःखों का भाजन बन जाता है। परिणाम स्वरूप अनेक विपत्तियाँ, आपत्तियाँ, दुःख और द्वंद्व की अवस्थाएँ निर्मित कर लेता है। वैसी अवस्था में विचारों का प्रवाह भी अति कठोर एवं क्रूर बन जाया करता है। कितनी भी दिल को दहलाने

वाली अवस्था क्यों न आये, उसके मन में जरा भी कोमलता की वृत्ति उभर नहीं सकती, क्योंकि तीव्र अभिमान वृत्ति से कोमलतादिक वृत्तियाँ आच्छादित रहती हैं। कभी–कभी पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ दयनीय बन जाती हैं। एक अभिमानी व्यक्ति के अभिमान के फलस्वरूप परिवार, समाज एवं राष्ट्र का अहित कितना ही क्यों न हो, उस अहित को भी वह अभिमानांध पुरुष देख नहीं पाता। उसे कितना ही समझाया जाय, प्रथम तो वह समझ नहीं सकता, कदाचित् जनहित को समझने की वृत्ति उसके अंतर में अंकुरित भी होती है तो अभिमान की वह कठोर वृत्ति उस अंकुरित वृत्ति को निर्दयतापूर्वक विनष्ट कर डालती है। सीता को लौटाने के लिए मंदोदरी ने रावण को बहुत समझाया। लौटाने की वृत्ति उसके मन में उत्पन्न भी हुई, किन्तु रावण की उस क्रूर अभिमान वृत्ति ने उसे दबा दिया। वह सीता को लौटा नहीं सका। परिणामस्वरूप कितना भीषण संघर्ष एवं संहार हुआ, यह सुज्ञजनों को विदित ही है।

इसी प्रकार के कई ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक घटनाचक्र शास्त्रों तथा ग्रंथों से विदित किए जा सकते हैं। वर्तमान में भी ऐसे काण्ड अनुभूति में आ सकते हैं। एक समय में बालेश्वर दुर्गावता में शेष काल में रुका हुआ था। उस समय वहाँ एक बहुत साधारण कारण को लेकर सामाजिक क्लेश फैला हुआ था। उस संघर्षमय क्लेश से बालेश्वर सत्ता और बालेश्वर दुर्गावता प्रभावित थे। उस संघर्ष से संबंधित प्रमुख व्यक्तियों से परामर्श किया। उससे निष्कर्ष यह निकला कि उसमें लेन–देन संबंधी कोई वस्तु नहीं थी, मात्र अमुक व्यक्ति समाज हित की दृष्टि से स्वाभिमान को गौण कर दे तो समग्र संघर्ष और क्लेशमय वातावरण समाप्त हो सकता है और अनेक व्यक्तियों को होने वाले अनावश्यक कर्म–बंधन रूक सकते हैं। अतएव उनमें वार्तालाप करने पर पूछा गया कि वह व्यक्ति कहाँ है ? लोगों ने कहा– वह यहाँ आ नहीं सकता। बहुत बीमार है। आपके दर्शनों का इच्छुक भी है। आप वहाँ पधारें तो कुछ बात हो सकती है।

जब मैं उसके घर दर्शन देने पहुँचा तो वहाँ उसे देखा। वह वृद्ध

होने के साथ ही रुग्णतावश चारपाई से उठ भी नहीं पा रहा था। उसके सामने संक्षेप में सम्पूर्ण वृत्तांत रखते हुए कहा– समाज की भलाई के लिए इस बात को गौण कर दो और ये सब बातें मेरी झोली में छोड़ दो। अन्य सब शांति स्थापना के लिए तैयार हैं। केवल आप ही की उदारता की आवश्यकता है। तब वह बोला– महाराज सा.! यह नहीं हो सकता। मैं जब तक जीवित हूँ तब तक यह होने का नहीं।

भगवान् महावीर का सिद्धांत बताते हुए कहा गया कि इस प्रकार की मनोवृत्ति जीवन–समाप्ति तक रह जाती है तो वह पुरुष सम्यक्त्वी तो नहीं रहता सो नहीं रहता, ऐसी कठोर वृत्ति के परिणाम स्वरूप अग्रिम आयुषबंध–नरकादिक गति का कर सकता है। तब उसने कहा– भले ही नरकादि गति में चला जाऊँ पर इस बात को मैं छोड़ नहीं सकता।

यह तो एक प्रत्यक्ष का उदाहरण है। विश्व में ऐसे कई पुरुष निकल सकते हैं, जिन्होंने इस प्रकार की अभिमान वृत्ति से स्व परकी दुर्गति के द्वार उद्घाटित किए हैं और कर रहे हैं।

यह अनंतानुबंधी अभिमान का लक्षण है। किन्तु कई भव्य प्राणी अप्रत्यख्यानी अभिमान से भी प्रभावित होते हैं। उनके मन में भी इस वृत्ति से कठोरता आ जाती है, किन्तु वह जीवपर्यन्त टिकने योग्य नहीं होती। अधिक से अधिक बारह मास की अवधि में सावंत्सरिक पर्व के प्रसंग से समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की कठोरता को काष्ठ–स्तम्भ की उपमा दी जा सकती है।

काष्ठ–स्तम्भ को पानी से आर्द्र करने या अन्य किसी उपाय से मोड़ा जा सकता है, वैसे ही जिस भव्य जीव को सम्यक्त्व को बोध यत्किंचित् भी सम्यक्तया है, वह बारह मास की अवधि में इस अभिमान की वृत्ति को छोड़कर सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकता है।

तीसरी श्रेणी प्रत्याख्यानी अभिमान की है। उसमें भी आपेक्षिक कठोरता तो रहती ही है किन्तु वह कठोरता बेंत की लकड़ी की भांति

होती है। इसमें स्वाभाविक लचक की स्थिति रहती है। बारह मास के अंदर ही, चौमासिकादि पर्व तिथियों पर वह गल जाती है। ऐसी वृत्ति श्रावक व्रत को स्वीकार करके चलने वाले वर्ग की होती है।

अभिमान की चतुर्थ वृत्ति संज्वलन रूप है। उसे बांस की छिलके की या घास के तृण की उपमा दी जा सकती है। पैदा होते ही अंतर्मुहूर्त के अंदर–अंदर वह विलय को प्राप्त हो जाती है। अधिक से अधिक काल तक रह भी गयी तो पक्ष की समाप्ति पर प्रायः समाहित हो जाती है। संतवर्ग अपने संयमी जीवन को सन्मुख रख करके चलता है। कदाचित् किसी निमित्त से इसके मन में अभिमान की वृत्ति पनपने लगती है तो वह अंतरवलोकन के समय उस वृत्ति को पहचान कर समाप्त कर देता है। कदाचित् अंतर की उस वृत्ति का सम्यक् तया अवलोकन न हुआ हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय अवलोकन कर ही लेता है और जागृत साधक को कर ही लेना चाहिए। यदि पाक्षिक प्रसंग पर भी इस वृत्ति का साधु संवरण नहीं कर पाता है तो वह अपनी साधुवृत्ति में न्यूनता लाता है और आंतरिक उपलब्धियों से वंचित बनता है। अतएव प्रत्येक सुज्ञ पुरुष को अपनी स्वाभाविक आंतरिक समल–निर्मल वृत्तियों का अवलोकन करते रहना चाहिए, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता साधता हुआ आत्मिक स्वरूप की ओर निरंतर अग्रसर होता रहे।

अभिमानादिक दुर्वृत्तियाँ पर सापेक्ष है, आंतरिक विकार से जन्य हैं। यथार्थ ज्ञानाभाव में चैतन्य देव स्वयं अपने स्वरूप को–निजी स्वभाव को विस्मृत कर देता है। तभी इस प्रकार की वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। अज्ञता या अल्पज्ञतावश वह शुद्ध आत्मस्वरूप को भलीभांति नहीं समझने के कारण अन्य को हीन मानता है एवं स्व को महान् न होने पर भी महान् मान बैठता है। ऐसे पुरुष की दृष्टि अन्य के प्रति समानता की न होकर विषमता की होती है। उसी के अधीन होकर कभी वह अन्य मानवों या प्राणियों को निमित्त बनाकर अभिमान वृत्ति को जन्म देता है तो कभी जड़ पदार्थों–भौतिक सम्पत्ति एवं सत्ता को प्रश्रय देकर अभिमान के झूले में झूलने लगता है। वह यह नहीं

सोच पाता है कि ये पर पदार्थ, सत्ता या सम्पत्ति न मेरी है, न होगी। मैं क्यों व्यर्थ ही इन कल्पित संयोगों से अपने आपके ऊपर उपाधि लाद रहा हूँ। इससे न मेरी आत्मा का और न पर का हित होने वाला है प्रत्युत् अन्य अनेक जहरीली वृत्तियाँ मेरे जीव में इनके सहारे पनपेंगी। इन उपाधियों के साथ अपने आप को लिप्त करना जीवन के सम्यक् विकास से हाथ धोना है।

इस अभिमान—वृत्ति के पनपने से विनय वृत्ति का लोप होगा एवं विनय वृत्ति के अभाव में सद्‌गुणों की प्राप्ति नहीं होगी सो तो नहीं ही होगी। किन्तु दुर्गुणों को अभिवृद्धि अवश्यमेव होगी। दुर्गुण एक ऐसा संक्रामक रोग है कि जिससे अन्य प्राणी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। ऐसे रोग को पनपने देना किसी तरह से भी स्व पर के लिए लाभदायक नहीं है। यह अभिमान रूप वृत्ति जैसे ही मन में प्रादुर्भूत होती है वैसे ही इससे संबंधित कर्मों का संचय होता है। वह कर्मों का संचय सत्ता में बना रहता है। जब अबाधाकाल आता है तब उदय में आकर पुनः आत्मा को उसी प्रकार के रोग से ग्रसित कर देता है।

अभिमान से प्रभावित आत्मा पुनः अभिमान योग्य कर्म—पुदगलों का संचय करती है। यथा— बीजों से फसल और फसल से कई गुणित बीजों की उपलब्धि होती है। इसमें निमित्त बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों ही हो सकते हैं। बुद्धिमान पुरुषों का कर्तव्य है कि पूर्व के अभिमान संबंधी कर्म—दलिकों को समाप्त होने दिया जाए, परन्तु अंकुरित अभिमान को फलित न किया जाए, यथा— अनाज के अंकुरित होने पर कृषक उनका संरक्षण पोषण न करे तो परिपक्व फसल से अनाज की अभिवृद्धि नहीं होती। यह व्यवहार तभी संभव हो सकता है जबकि कृषक को अधिक अनाज पैदा करने की चाह न हो।

इसी प्रकार साधक में आंतरिक जागृति उत्पन्न हो जानी चाहिए कि मुझे पूर्व के अभिमान संबंधी कर्म—दलिकों को समाप्त करना है तथा नये अभिमान संबन्धी कर्म—दलिकों का संचय नहीं होने देना है। ऐसी अंतश्चेतना जिसकी बन जाती है वह अपने आपको इस प्रकार

जागृत बना लेता है कि जिससे अभिमान संबंधी कर्मदलिकों के कार्यकारण भाव को भलीभाँति जान सके और देख सके। उनको नष्ट करने के लिए यथायोग्य सत्पुरुषार्थ कर सके। यह कार्य तभी सफलीभूत होगा जब समीक्षण-ध्यान के माध्यम से निरंतर समीक्षण दृष्टि को पैनी बनाया जाए।

काषायिक चतुष्क (चौकड़ी) में अभिमान का गणित की अपेक्षा द्वितीय स्थान है। क्रोध का स्थान प्रथम है। अतएव क्रोध का समीक्षण हुए बिना मान का समीक्षण सम्भव नहीं, क्योंकि क्रोध की अभिव्यक्ति आम जनता में शीघ्रता से अनुमानित हो जाती है। किन्तु अभिमान की अभिव्यक्ति का बोध उतना सहज नहीं है।

क्रोध की अपेक्षा अभिमान की अभिव्यक्ति को समझने के लिए अधिक पैनी दृष्टि की आवश्यकता है। किन्तु क्रोध को देखते ही प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि के साथ इतनी सक्षम हो जाती है कि फिर मान को देखने में सुगमता आ जाती है। इसीलिए प्रभु महावीर ने उद्घोष किया कि "जे कोह दंसी से माण दंसी" जो पुरुष क्रोध को देखता है वही मान को देखता है।

क्रोध को देखने में नियत समय की आवश्यकता रहती है। साथ ही क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए उनके निजी स्वरूप देखने की आवश्यकता होती है। वह कर्म-दलिक के रूप में भी होता है और भावरूप में भी। उभयावस्था का क्रोध क्रोध-समीक्षण में जाना जा सकता है।

क्रोध का सम्यक्तया समीक्षण हो जाने पर मान-समीक्षण किस प्रकार करना चाहिए, एतदविषयक वर्णन यत्किंचित् रूप में अग्रिम विवेचन से विदित किया जा सकता है। अतएव मान-समीक्षण की अभिलाषा रखने वाले साधकों को एकाग्रतापूर्वक चिंतन-मनन के साथ अवलोकन करते हुए अभ्यासरत बनने की आवश्यकता है।

मान की परिभाषा

मान आत्मा की विकृत वृत्ति है। सहज स्वाभाविक चैतन्य वृत्ति

को विभाव रूप विकृत बनाने वाले कर्म–स्कंध जब अहंकार के रूप में परिणत होते हैं, तब उन कर्मस्कंधों को मानसंज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के कर्मस्कंध आत्मप्रदेशों के साथ क्षीर–नीर की भांति मिले हुए रहते हैं। जब तक इनका सत्ता रूप में अवस्थान रहता है, तब तक इनका परिणाम मानसिक धरातल पर नहीं आता। जब स्थितिपाक होने पर वे उदयगत होते हैं, अर्थात् फल प्रदान करते हैं, उस वक्त इनका सूक्ष्म परिणाम आत्मा के स्वाभाविक निजगुण नम्रता को कुण्ठित कर देता है। इस परिणाम का विज्ञान साधारण व्यक्तियों को ज्ञात नहीं हो पाता। जब तक यह अवस्था रहती है तब तक मानसिक धरातल पर नम्रता की आभा झलकती है जिससे कि उसके विचारों में आंशिक नम्रता का यदा–कदा पुट लगता है एवं वाणी के माध्यम से भी नम्रता संबंधी स्वर यदा–कदा निकल पड़ता है और कायिक आचरण में भी इसका आंशिक रूप से व्यवहार हो सकता है। यह एक प्रकार के मान के स्वरूप की परिभाषा एवं तज्जन्य सूक्ष्म परिणाम की बात हुई।

यों तो मान के असंख्य प्रकार है। इन असंख्य प्रकारों के हेतु रूप कर्म–स्कंधों की तीव्रता, मंदता आदि विविध अवस्थाएँ अध्यवसायों पर निर्भर रही हुई हैं। सत्तागत मान के स्कंध उदयगत होते हैं, उस समय उनका प्रभाव मन को प्रभावित करता है। बाहर का कोई आधार नहीं मिलने पर भी पुरुष अपने आपको अभिमान की अवस्था में अनुभव करता है। इसमें अपने आपको अधिक मान लेने के कारण आगे के विकास का द्वार अवरुद्ध होता है। ऐसी वृत्ति के बनने पर मानस–तंत्र से संबंधित सभी वृत्तियाँ, जो विकासोन्मुख थी, वे ह्रासोन्मुख हो जाती हैं। उससे जीवन पर घातक असर होता है। नवीन–नवीन वृत्तियों के सहारे जो विशेष उपलब्धि होने वाली थी, वह तो अवरुद्ध हुई सो हुई, किन्तु जिन वृत्तियों का अवनत अर्थात् अधोमुख होने का प्रसंग आया वे वृत्तियाँ धीरे–धीरे शिथिल होने लगती हैं। इस प्रकार मानस–तंत्र की वृत्तियों के शिथिल होने से अन्य शारीरिक तंत्र भी अपनी वृत्तियों सहित शिथिल बन जाते हैं। यह रफ्तार (गति) अवसर्पिणी ह्रासशील काल की

तरह सभी शारीरिक अवयवों को दिन प्रतिदिन ह्रासोन्मुख बना देती है। इसका दुष्परिणाम समग्र शरीर पर भी पड़ता है। ज्ञानवाहिनी एवं रक्तवाहिनी नाड़ियाँ सिकुड़ने लगती है, रक्त का संचार तीव्र व मंद बना सकता है और कभी हार्ट का दौरा भी सम्भव हो सकता है। मस्तिष्क तनावपूर्ण स्थिति में आ जाता है क्योंकि आगे के विकास को अवरुद्ध कर लेने से उसके पास अतिस्वल्प ज्ञान रह जाता है। अन्य कोई उससे जानकारी चाहेगा तो उस समय उसका समीचीन उत्तर नहीं सूझे। समीचीन उत्तर के अभाव में अन्य उत्तर देने पर वादविवाद का होना सम्भव होगा। उस समय वह पुरुष अपनी ही जानकारी की पकड़ के कारण अपने अहं को शिथिल नहीं कर पाएगा। दूसरी तरफ से होने वाले प्रतिकूल व्यवहार को भी सहन नहीं कर पायेगा, जिससे चिंता, तनाव आदि अवस्थाएँ रहनी प्रारंभ हो जाएगी। इस सिलसिले के अधिक समय बने रहने पर मानसिक रोग के साथ–साथ आयु के नियत समय से पहले जल्दी उपभोग करने का निमित्त भी बन सकता है। इस प्रकार यह उदयगत मान पुरुष के लिए उपर्युक्त रीत्या घातक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार बाह्य वायु मंडल में तरंगित होने वाली तरंगें उस पुरुष के अहं को अव्यक्त रूप से आघात पहुँचाने की स्थिति में पहुँचती हैं, उद्वेलित करती हैं। उस समय वह पुरुष तिलमिला उठता है। प्रतीकार करने के लिए वह तत्पर बनता है। उत्पन्न हुई प्रतिरोधात्मक शक्ति और पूर्व तनाव आदि से प्रभावित होने से पाचन–तंत्र के कार्य संचालन की क्षमता अस्तव्यस्त बन जाती है। परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थों के रस से शरीर को संपुष्ट करने वाली जो धातुएँ निर्मित होने वाली होती हैं, वे सम्यक् रूप से नहीं, निर्मित हो पातीं। परिणाम यह होता है कि शारीरिक सामर्थ्य को टिकाए रखने की क्षमता दिन–प्रतिदिन क्षीण होती रहती हैं। संरक्षण शक्ति के आभाव में "शरीरं व्याधिमंदिरम्" बन सकता है। क्योंकि शरीर के अंदर ऐसी भी संरचना है जिससे शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य का संरक्षण होता है। बाहर से आने वाले शरीर के प्रतिकूल तत्त्वों पर वह रोक लगाती है।

शरीर तभी कामयाब हो सकता है जब उस संरचना को आवश्यकतानुसार रसादि से पुष्टि प्राप्त होती रहे। यदि आवश्यकतानुसार रसादि नहीं मिले तो समग्र जीवन ही समस्याओं से परिव्याप्त भारस्वरूप एवं दुःख-द्वन्द्वमय बन जाएगा।

मान वृत्ति एक मधुर पॉयजन है- (मीठा विष है) ऊपर से यह रुचिकर ज्ञात होता है पर इसका परिणाम उपर्युक्त तरीके से घातक होता है। यद्यपि इसके संरचना संबंधी कर्मस्कंध, सूक्ष्मतर हैं, पर जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने में तीव्र हैं। इस प्रभाव से शारीरिक हानि के अतिरिक्त आर्थिक हानि भी कम नहीं होती। क्योंकि अर्थोपार्जन में शारीरिक तंत्र का बहुत बड़ा योगदान रहता है। शारीरिक चिंता की दशा में वह योगदान नहीं मिल पाता। इससे आर्थिक कृशता भी पनपती जाती है। यशो-कीर्ति को भी घुन लग जाता है। परिवार, समाज एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों का विस्मरण होने से सर्वत्र अवज्ञा एवं अपमान ही पल्ले पड़ता है। ऐसा पुरुष तन्मयतापूर्वक धार्मिक क्रिया तो कर ही कैसे पायेगा ?

मानग्रस्त मानव, धार्मिक क्रिया करना तो दूर रहा, धार्मिक शिक्षा को श्रवण करने का भी अपात्र बन जाता है। आगम में कहा गया है-

"अहं पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थैंमा कोहा पमाएणं रोगेणाल स्सएणय।।" उत्तरा- 11-3

इन पाँच स्थानों-कारणों-दोषों से युक्त प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता, यथाः अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

शिक्षा प्राप्ति में अभिमान अधिक घातक होने से शास्त्रकार ने यहाँ उसे सबसे पहले रखा है।

अतएव मान का स्वरूप और इसके दुष्परिणाम उल्लिखित संक्षिप्त विवरण से भलीभांति जाने जा सकते हैं।

मान के आभ्यंतर एवं बाह्य निमित्त

आभ्यंतर निमित्त हैं- मान संबंधी कर्मदलिकों की (स्कंधों की)

स्थिति समाप्त होने पर उदय में आना अथवा अंतर की किसी विशिष्ट शक्ति का प्राप्त होना आदि। आभ्यंतर निमित्त मान के उदय में सहायक होते हैं। बाह्य निमित्त विविध प्रकार से मान के दलिकों को उदय में लाने के लिए सहायक बन जाते हैं। किसी को कुछ आवश्यक वस्तु लाने के लिए कहा और उसने इंकार कर दिया। उसकी इंकारी भी मान को उद्वेलित कर सकती है।

व्यापार में अंतराय कर्म के क्षयोपशम से कुछ उपलब्धि हो गयी तो उस समय व्यक्ति उस उपलब्धि के निमित्त से अहंकार की पुष्टि कर बैठता है। कदाचित् समाज में वक्तव्य देने की किंचित् कला आ गयी तो वह फूला नहीं समाता और अपने आपको बहुत बड़ा वक्ता मान बैठता है। कभी–कभी कुछ व्यक्ति उसको अपना प्रतिनिधित्व दे देते हैं। तब तो फिर कहना ही क्या ? चंचल मर्कट की भाँति कूदने लगता है। कदाचित् संयोगवश सरपंच बन जाता है, तो फिर हवा से बातें करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति को तिरछी निगाह से देखता हुआ यह जतलाता है कि मुझ से कोई टकराव मत लेना। टकराव लेने वाले को मैं तहस–नहस कर सकता हूँ। अधिक आगे बढ़ने पर नगरपालिका का चेयरमैन बनने का प्रसंग आ गया तब तो मानो वह नगर का जागीरदार बन गया।

पैसों के बल पर या छल–बल से कदाचित् विधानसभा के चुनाव में विजयी हो गया– एम.एल.ए. बन गया तो उसका अहं कई गुणा अधिक बन जाता है। मुख्यमंत्री अथवा प्रधानमंत्री बनने का प्रसंग आ गया तो फिर कहना ही क्या ! "मै चौड़ा–गली सँकड़ी" वाली कहावत को चरितार्थ करने लगता है। कभी कोई व्यक्ति पूर्व जन्म के पुण्य से, प्राप्त धन से, कदाचित, आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति का कुछ सहयोग कर देता है तो उस व्यक्ति को सदा हीन दृष्टि से देखने लगता है। प्रति समय अपना अहसान जतलाता रहता है। कोई व्यक्ति किसी को कुछ कह देता है और काकतालीय न्याय से उससे उस व्यक्ति की समस्या कुछ हल हो जाती है और कृतज्ञतावश उसके मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं कि आप बड़े

बुद्धिशाली हैं। आपने बहुत अच्छा सुझाव दिया, मेरा कार्य बन गया इत्यादि, तो यह श्रवण कर वह अपने आपको बहुत बड़ा विद्वान् समझने लगता है। कानून विषयक कोई बात सत्य हो जाती है, तो अपने आपको वकील मान बैठता है। दो पुरुषों के लड़ाई–झगड़े के मध्य सहजता से कोई शब्द निःसृत हो गया, दोनों के लड़ाई–झगड़े के निवारण में वह हेतु भूत बन गया और दोनों व्यक्तियों ने कहा– भाई, आपकी सूझबूझ तो एकदम अनोखी है ! इस बात को श्रवण कर मानी मानव सोचने लग जाता है कि मैं सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) का ज़ज हूँ। कोई व्यक्ति कुछ धार्मिक क्रियाएँ करने लगता है और उसकी वह क्रियाएँ अभी वर्णमाला के तुल्य भी नहीं हैं। फिर भी किसी साधारण व्यक्ति ने उससे कह दिया कि आप बड़े धर्मात्मा व्यक्ति हैं, तो फिर वह सोचने लगता है कि मेरे समान धर्मात्मा अन्य कोई नहीं है। किसी ने पाँच, सात उपवासादि कर लिए और लोगों के मुँह से "तपस्वी" शब्द का प्रयोग किया गया तो वह सोच बैठता है कि मुझ सम कोई तपस्वी नहीं है। मैं किसी को भी शाप देकर भस्मीभूत कर सकता हूँ ! वरदान प्रदान कर निहाल कर सकता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार मानवों के मन विभिन्न कारणों से मान की वृत्तियाँ उद्भूत होती रहती हैं। वे मान रूपी मधुर विष से मूर्च्छित, बेहोश बने रहते हैं। उस बेहोशी में उनको अपनी वास्तविकता का विचार तक नहीं आता कि मैं वस्तुतः किस धरातल पर स्थित हूँ। मेरा कैसा व्यवहार है ? क्या मैं कर रहा हूँ ? यह मेरा वर्तन किन भावों का द्योतन एवं किस दशा का सूचन करने वाला है ? मैं घोरातिघोर अज्ञानांधकार में भटक रहा हूँ या प्रकाश के सन्मुख हूँ ? मेरी दृष्टि वस्तु स्वरूप को समझने में सक्षम है या किं कर्तव्य विमूढ़ है ?

अभिमान के निमित्त

अभिमान का उपादान कारण तो स्वयं आत्मा है किन्तु उसके निमित्त कारण मुख्यतया दो प्रकार के हैं– एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर।

बाह्य निमित्त अनेकानेक एवं अनियत है। उनमें व्यक्तियों का सम्पर्क भी एक कारण है। इर्द–गिर्द आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति रहेंगे तो वे व्यक्ति अभिमान के निमित्त बन जायेंगे। पंच पंचायत में विशेष बोलने वाले न रहें, एक ही व्यक्ति कुछ अधिक बोलने वाला हुआ तो नहीं बोलने वाले व्यक्ति बोलने वाले के मन में अभिमान को जागृत बनाने में निमित्त बन जायेंगे। कुछ व्यक्ति किसी व्यक्ति के कुतर्कों का समीचीन प्रत्युत्तर न दे पायें और गुणानुवाद कर दें तो उस से भी अभिमान के उभरने में सहायता मिलती है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए कई पुरुष त्याग–प्रत्याख्यान एवं किंचित् भी धर्मसाधना नहीं कर पाते। उनमें से यदि कोई व्यक्ति यत्किचित् कुछ त्याग करता है, यथा– ऊपर से नमक न लेना, भोजन न मांगना, नियमित सामायिक कर लेना आदि। इन कार्यों को देखकर अन्य, जो यह कार्य न करने वाले हैं, वे कहते हैं– "साहब ! यह तो बहुत बड़े त्यागी हैं, ऊपर से नमक नहीं लेते हैं। यह भोजन मांगते नहीं है और सामायिक नित्य करते हैं।" ऐसा कथन भी अल्प सत्व वाले व्यक्ति के लिए अभिमान का निमित्त बन जाता है। ऐसा निमित्त पुनः पुनः मिलने से वह पुष्ट होता चला जाता है। कभी–कभी अल्प सत्व वाले व्यक्तियों के लिए उत्तम जाति का प्रयोग भी अभिमान का कारण बन जाता है। किसी परिवार में कौटुम्बिक जन की संख्या बढ़ जाने से भी अज्ञ जनों के मन में अभिमान की भावना जागृत हो जाती है। कभी कोई पुरुष कुछ कमजोर व्यक्तियों को गिरा देता है अथवा उसके साथ हाथा–पायी करने में बलशाली होता है तो वह भी अभिमान का निमित्त बन जाता है। बौद्धिक क्षमता रखने वाला अधूरा विद्वान् कभी–कभी अन्यों को वाद–विवाद में परास्त कर देता है, तब उनकी पराजय और अपनी जय स्वरूप अभिमान की जागृति हो जाती है। इसी प्रकार के अन्य भी कोई बाह्य निमित्त अभिमान को उत्तेजित करने वाले बन जाते हैं।

यद्यपि ये बाह्य निमित्त तभी कामयाब होते हैं, जबकि मान संबंधी कर्म–वर्गणा के स्कंध आत्मा के साथ विद्यमान रहते हैं। यथा– कुछ रोगाणु शरीर में व्याप्त होकर स्वास्थ्य संरक्षक परमाणुओं को शिथिल

एवं कमजोर बना देते हैं। तब फिर अन्य स्थलों पर रहने वाले रोगाणु भी भीतर के रोगाणुओं को सबलता प्रदान कर शरीर को रोगग्रस्त बना देते हैं। यदि भीतर में रोगाणुओं का अवस्थान यत्किंचित् भी न रहे तो स्वास्थ्य संरक्षक परमाणु शिथिल एवं निर्बल नहीं बन पायेंगे। परिणामस्वरूप अन्य स्थल पर निवास करने वाले रोगाणु कितना ही बल क्यों न लगाएँ, शरीर को रोगग्रस्त करना चाहें, पर वे उसमें कतई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। उनकी समग्र शक्ति विफल सिद्ध होती है। वैसे ही मान—स्कंध जब तक अंतरंग में विद्यमान है तब तक उससे आत्मीय विवेक शक्ति विलुप्त सी रहती है। परिणामस्वरूप आत्मा को रुग्ण बनाने वाली वृत्तियों का प्रतीकार नहीं हो पाता और बाह्य निमित्तों का उन कमजोर वृत्तियों पर, प्रभाव छा जाता है। वे मान संबंधी रोगाणुओं के प्रकट होने में सहायक बनते हैं। इस दृष्टि से बाह्य निमित्त अपने कार्य में सफल हो जाते हैं। यदि आत्मप्रदेशों से मान संबंधी समग्र कर्मस्कंध वासना सहित न रहें तो कितने भी निमित्त उपस्थित क्यों न हों, उनसे मान संबंधी कोई भी प्रक्रिया जीवन में उभर नहीं सकती। अतएव बाह्य निमित्तों को संपुष्ट करने एवं संबल देने वाले भीतर में अवस्थित कर्मस्कंध हैं।

मान के आभ्यंतर निमित्त

कोई भी सबल निमित्त उपस्थित न हो किन्तु पूर्वबद्ध एवं अंतरंग में रहे तो मान संबंधी कर्मवर्गणा के स्कंधों की स्थिति समाप्त होने पर जब वे स्वाभाविक रूप से उदयावस्था को प्राप्त होते हैं तब उन मान संबंधी कर्म—स्कंधों के उदय होने पर सामान्य निमित्त से भी अध्यवसायों एवं मानस तंत्र पर प्रभाव होने लगता है। परिणामस्वरूप वे स्वयं ही अपने आप से बड़बड़ाने लगते हैं। मान सूचक शब्दोच्चारण भी मुख से होने लगता है। उसका दुहरा प्रभाव होता है। पहला तो मान की अवस्था मानस तंत्र के माध्यम से शरीर के अंदर ज्ञानवाहक नाड़ी तंत्र में तनाव उत्पन्न करती हैं जिससे कि तज्जनित पूर्व वर्णित मिष्ट पॉइजन का जीवन पर असर होता है। दूसरा यह है कि उस मान की अवस्था

को सत्कार के साथ आदर देने से अन्य नवीन मानस्कंधों का कई गुणा बंध हो जाता है।

जैसे अनाज के एक बीज के अंकुरित होने पर वह बीज तो समाप्त हो जाता है। परन्तु जब उसकी फसल परिपक्व होती है, तब अनेक नूतन बीज तैयार हो जाते हैं। इस एकदेशीय उदाहरण से समझा जा सकता है कि मान संबंधी कर्मवर्गणाओं से कितने ही गुणा नवीन कर्म बंधन की परिणति उत्पन्न होती है।

इन सभी दृष्टिकोणों का सही विज्ञान तभी हो सकता है जब मानव की दृष्टि "समीक्षण" बन जाए। समभाव पूर्वक तटस्थता से अपनी इन वृत्तियों को देखने का प्रयत्न करने पर ही उसे भासित होने लगेगा कि— मैं क्या कुछ कर रहा हूँ ? एक बूँद पानी को घड़े भर के रूप में समझ रहा हूँ, तिल को ताड़ के रूप में देख रहा हूँ, गंदे पानी की बूँद को निर्मल जल के रूप में समझ रहा हूँ, नगण्य यत्किंचित् बातों को लेकर मैं अपने मानस तंत्र को, ज्ञानादि केन्द्रों को मान रूपी मधुर जहर से प्रभावित करके निर्जीव बना रहा हूँ। इन विषम भावों से मान का पोषण कर वर्तमान जीवन का अहित कर रहा हूँ एवं भावी जीवन को भी गहनतम तमस् में ढकेलने का उपक्रम कर रहा हूँ। आत्मा की स्फटिक विमल वृत्तियों को इस मीठे विष से मलिन बना रहा हूँ। कहाँ तो मेरा यह अमूल्य नर–तन और कहाँ यह कूड़ा करकट एवं अशुचि दुर्गंध युक्त पदार्थों की दुर्गंध के तुल्य ये मानसिक वृत्तियाँ। इन वृत्तियों से मैंने बुद्धि का ह्रास किया, विकास को अवरुद्ध किया। पवित्र भावनाओं का उपमर्दन किया, जीवन की अमूल्य घड़ियों को व्यर्थ में विनष्ट कर दिया। अतएव समीक्षण दृष्टि को अपना कर मान रूप इस मधुर पॉइजन के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन कर मैं इससे बचने का सतत प्रयास करूँ।"

दुर्दांत शत्रु मान

मान एक दुर्दांत शत्रु है। सामान्य जनता सशक्त शरीर वाले बलवान् प्रतिपक्षी को दुर्दांत शत्रु मानती है। पर वस्तुतः सशक्त शरीर

पिंड वाला दुर्दांत शत्रु नहीं हो सकता, वह तो शत्रु का माध्यम बनता है, हथियार या औजार बनता है। वास्तविक शत्रु शरीर के भीतर मानसतंत्र पर उभरने वाले मान संबन्धी कर्मस्कंधों का उदय होना है। उनका प्रभाव मानसतंत्र को प्रभावित करता है। जब मानसतंत्र उस मान के अधीन बन जाता है तब उसका कार्य प्रतिक्षण, प्रतिपल, मान रूपी दुर्दांत शत्रु के कार्य को सम्पन्न करने में लगा रहता है। मानसतंत्र शरीर व्यापी है।

शरीर के प्रमुख अंग पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों के माध्यम से मानसतंत्र इस खोज में, टोह में रहता है कि मेरे ऊपर जिसका प्रभाव है, उस प्रभाव में कभी कहीं कमी न आने पावे। मैं हर समय उसके लिए सतत सावधान रहूँ और वह मानसतंत्र मान के प्रवाह में प्रवाहित हो कर चलता है। उस समय अन्यान्य केन्द्रों संबंधी कार्यों का वह मानसतंत्र सम्पादन करता है। किन्तु उन अन्य कार्यों को निष्पन्न करता हुआ भी मान को ठेस न पहुँचे, इस बात के लिए सतत जागरूक रहता है। यदि मान को किसी भी कार्य से स्वल्प भी चोट लगती है तो मानसतंत्र अन्य केन्द्रों के कार्यों को छोड़ बैठता है और मान संबंधी आघात की प्रतिक्रिया करने लगता है। उस प्रतिक्रिया के प्रवाह में वह शरीर गत अन्य तंत्रों का कुछ भी ध्यान नहीं रखता हुआ इतना कुछ कर बैठता है कि जिससे अपने सहयोगी तंत्रों का भी दुरुपयोग करने लगता है। जब नेत्र के अन्यान्य कार्य करते हुए नेत्र के समीप मान का अनुयायी मानसतंत्र यह अवलोकित करता रहता है कि अमुक रूपवान व्यक्ति अपने रूप के माध्यम से मेरे स्वाभिमान को चोट तो नहीं पहुँचा रहा है, वह उस रूपवान व्यक्ति के हाव-भाव एवं नेत्र आदि चेष्टाओं का सूक्ष्मता से अनुसंधान करता है। जैसे "करफ्यू" के समय सैनिक अधिकारी आने-जाने वालों की चौकसी करता है और यह देखता है कि ये आने-जाने वाले व्यक्ति करफ्यू के आदेश के प्रतिकूल नहीं कर रहे हैं। उसको ज्ञात हो जाए कि करफ्यू भंग हो रहा है तो वह उस व्यक्ति को वहीं रोक देता है। उसके ऊपर प्राप्त अधिकारानुसार कार्यवाही करता है। ठीक वैसे ही एक दृष्टि से चिंतन

किया जाए तो नेत्र के माध्यम से जो कुछ भी होता है उसका वह मानसतंत्र बारीकी से अवलोकन कर, संभाला (तलाशी) लेता है। उसमें यदि यत्किंचित् भी मान को ठेस पहुँचाने वाली वस्तु अवलोकित करता है तो उसको अपने मानसतंत्र के घेरे में आरुद्ध कर लेता है। जब श्रोत्रेन्द्रिय से संबंद्ध मान से प्रभावित मानसतंत्र के अवयव शब्द संबंधी अन्वेषण में तत्पर रहते हैं तब यदि उनको ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द मान को हानि पहुँचाने वाले हैं तो उसकी सूचना मानसतंत्र के केन्द्र में पहुँचाते हैं। केन्द्र की ओर से रसनातंत्र के पास रहने वाले मानसतंत्र को आदेश मिलता है कि बोलने वाला व्यक्ति अमुक तरह के शब्दों को प्रयोग न करे, एतद् विषयक ध्यान रखा जाए, यदि शब्द प्रयोक्ता आदेश को ध्यान में रख लेता है एवं मान के प्रतिकूल कुछ भी नहीं बोलता है, तब तो रसनातंत्र के समीप रहने वाले मानसतंत्र के अवयव तटस्थ होरक उसको, यनि सामने वाले व्यक्ति को बोलने देते हैं, किन्तु सामने के मुख से निकलने वाले शब्दों का बारीकी से अवलोकन चालु रहता है। जब रसना इन्द्रिय के पास रहने वाले मानसतंत्र के अवयवों को यह ज्ञात हो कि यह पुरुष इंकार करने के उपरांत भी मान के विपरीत शब्दों का रूपांतरण नहीं कर रहा है, तब फिर उसकी सूचना मानसतंत्र के केन्द्र को पहुँचती है और वह केन्द्र अपने सहयोगी क्रोध को निर्देशन देता है कि मान के विपरीत सामने खड़ा पुरुष बोलना बंद नहीं कर रहा है, शक्य प्रयत्न किए जा चुके हैं और वे सभी प्रयत्न विफल रहे हैं। अतएव अवसर आ गया है कि आप अपना बल शब्द रूपी एटम से दिखाएँ। उस समय क्रोध रूपी तंत्र अपने माननीय साथी मान की सुरक्षा करने के लिए सारे मानस तंत्र पर अपना प्रभाव डालता है एवं नयन लाल अंगारे के तुल्य बना वीभत्स रूप धारण कर क्रोध अवस्था में शस्त्र बरसाने लगता है और उस शब्द बोलने वाले व्यक्ति को उत्तेजक एवं करारा उत्तर देता है। उसकी मानसिक वृत्ति को झकझोर देता है। मान को क्षति पहुँचाने वाले शब्दों को प्रयोग भी भूलकर वह भी अपने अंतर्मन में रहने वाले मान के साथी क्रोध को उद्वेलित कर देता है। परिणामस्वरूप उसके

मुँह से भी ऐसे शब्द निःसृत होने लगते हैं कि जिससे सामने वाले व्यक्ति के मानसतंत्र पर अधिक प्रहार हो। इस प्रकार परस्पर संघर्ष छिड़ जाता है। दोनों पुरुषों के होठ फड़फड़ाने लगते हैं। दंत–पंक्तियाँ कटाकट करने लगती हैं। हाथ और पैर काँपने लगते हैं। त्वचा में ऊष्मा व्याप्त हो जाती है। नाक से गर्म वायु वेग से निकलने लगती है एवं दोनों स्वयं के स्वरूप को भूलकर युद्ध क्षेत्र में उतर जाते हैं। इस प्रकार उन दोनों के मान का यह द्वंद्व देखते ही बनता है। परिणामस्वरूप दोनों की इतनी क्षति होती है जिसकी सम्पूर्ति होना अति ही कठिन होता है। उन दोनों के मान में से जिसकी सहयोगी शक्तियाँ अधिक प्रबल होंगी वे शक्तियाँ प्रतिपक्षी मान एवं क्रोध को दबा देंगी। अपने आप पर प्रतिपक्षी की विजय नहीं होने देंगी। अनुकूल अवसर मिलते ही वह पराजित–दबा हुआ मान पुनः शक्ति के साथ उभरेगा और विजयी मान को पछाड़ने की चेष्टा करेगा। किसी समय उसे पराजित करेगा तो किसी समय स्वयं पराजित होगा। इस प्रकार दोनों मान रूपी योद्धाओं की कुश्ती उन बड़े–बड़े शारीरिक पहलवानों की तरह चलती रहती है।

दो पहलवान जब भिड़ते हैं तो एक दूसरे को क्रमशः पछाड़ते रहते हैं। उस वक्त उन शारीरिक पहलवानों के बीच बाहर से दोनों के शरीर जूझते हुए दिखते हैं। दोनों के रोष–खरोश एवं शब्दों की ध्वनियाँ कर्ण गोचर होती हैं। दोनों के शरीर पर घात एवं प्रतिघात होता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ भी दोनों पहलवानों के अंतर में विद्यमान अपने–अपने बल को अभिमान का युद्ध ही ज्ञात होगा। उस युद्ध में कोई भी मान स्थायी रूप से पराजय को प्राप्त नहीं होता, वरन् पराजय जनित ग्लानि उस शत्रुता में वही काम करती है जो आग में घी करता है। ऐसी परिस्थिति में शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक एवं आत्मीय शक्तियों का कितना ह्रास होता है ! कितनी विपन्नता आती है ! कितने कर्मबंधन होते हैं ! दुरध्यवसायों के परिणामस्वरूप समग्र जीवनीय शक्ति ह्रासोन्मुख हो जाती है। इन सभी वृत्तियों के बीच रहने वाला चैतन्य देव अनेक जन्मों में सद्अनुष्ठानों से प्राप्त आत्म–शुद्धि, शक्ति एवं पुण्य प्रवाह को विनष्ट कर "धूरमोची के धूरमोची" की

कहावत को चरितार्थ करता है।

इस दुर्दांत शत्रु को पराजित करने के लिए उपर्युक्त प्रकार का वर्तन–व्यवहार काम नहीं आता। इसको पराजित करने के लिए आवश्यक है कि चैतन्य देव जाग्रत होकर उसकी पराधीनता से ऊपर उठे एवं समीक्षण दृष्टि का प्रकाश इस पर डाले। तभी यह दुर्दांत मान रूपी शत्रु पलायन कर सकता है, जैसे गहनतम अंधकार, प्रकाश के आने पर विलुप्त हो जाता है। समीक्षण दृष्टि के तीव्र प्रकाशोदय होने पर मान संबंधी वृत्तियाँ एवं इसके सहयोगी क्रोध से संबंध वृत्तियाँ, जो अंधकार के सदृश हैं, समीक्षण दृष्टि की उद्भासमान किरणों से स्वतः ही अपने आपको छिपाने लगेगी। इस तथ्य को एक रूपक द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

अंधकार किसी विशिष्ट पुरुष के सामने जाकर शिकायत करता है– महानुभाव ! मैं बड़ा ही दुःखी हूँ। मेरे दुःख का कोई पार नहीं है, मुझ पर दया करें। आप जैसे विशिष्ट शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरे प्रतिपक्षी शत्रु से मेरा पिंड छुड़ायें एवं दुःख मिटायें। आप ऐसा करेंगे तो मुझ पर बहुत बड़ा उपकार होगा। मैं कभी आपके अहसान को नहीं भूलूँगा। आशा है, आप तटस्थ भाव से मेरा न्याय करेंगे।

विशिष्ट पुरुष ने अंधकार से कहा– तुम तो बहुत बलवान् हो, शक्ति सम्पन्न हो, समग्र संसार को व्याप्त करके रहे हुए हो, तुम्हारी जड़ें बहुत ही गहरी हैं, मजबूत हैं। तुम्हारा प्रभाव इतना व्यापक है कि तुम मनुष्यों एवं अन्य समग्र प्राणी वर्ग के रास्ते ही अवरुद्ध कर देते हो। तुम्हारे सरीखा शक्तिशाली तत्त्व इस विश्व में अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता, तुम्हीं एक ऐसे छायादार वृक्ष हो कि तुम्हारी छाया में ही चोर चोरी करने में सफलता पाते हैं, दुराचारी व्याभिचार में प्रवृत्त होते हैं एवं निशाचर जन्तु अपना भोज्य प्राप्त करते हैं। जुआरी एवं दुर्व्यसनी अपने–अपने कार्य में कामयाब बनते हैं। इसी प्रकार के अन्य प्राणी रात्रि के राजा तुम्हारे आने पर बड़ी खुशी मनाते हैं। किं बहुना, इस प्रकार के जितने भी प्राणी हैं, वे तुम्हारी राह देखते हैं, तुम्हारे आने पर

प्रसन्नता अनुभव करते हैं। फिर तुम्हें डरने की क्या आवश्यकता है ? तुम तो स्वयं ही इतने विकराल हो कि जिससे उपर्युक्त अनुचर प्राणियों के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं, वे सब तुम्हारे आने पर सहम जाते हैं, दरवाजे बंद कर अंदर की सांकल लगा आँख बंद कर लेते हैं। अपना सारा कार्य-व्यापार बंद कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में तुमको इस संसार में कौन दुःख देने वाला है ? तुम्हें कहीं भ्रांति तो नहीं हो रही है, जिससे तुम दुःखित होकर मेरे समक्ष फरियाद कर रहे हो ?

तब अंधकार ने कहा- भगवन् ! मुझे भ्रांति नहीं और न निष्कारण पीड़ित होकर मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ। आपने मेरे विषय में जो कुछ भी कहा वह सर्वथा सत्य है। पर मुझे दुःखी करने वाले जगत् के प्राणियों में से कोई नहीं। मुझे पीड़ित करने वाला, प्रताड़ना देने वाला यदि कोई शत्रु है तो वह सूर्य का प्रकाश है। सूर्य तो दूर रहता है किन्तु उसका प्रकाश इतना भयंकर है कि मुझे अनादि काल से सताता आ रहा है। अब तक जैसे-तैसे सहन करता रहा, परन्तु अब सहन-शक्ति का बांध टूट गया है। किं कर्तव्य विमूढ़ होकर आपके श्री चरणों में निवेदन कर रहा हूँ। मेरे निवेदन पर ध्यान देकर मेरा संकट टालें यही विनम्र प्रार्थना है। आपके सिवाय मेरा कोई अन्य सहारा नहीं।

उस विशिष्ट पुरुष ने कहा- चिंता मत करो, मैं इंसाफ दूँगा। पर निर्णय देने के पूर्व मुझे उभय पक्ष की बात सुननी पड़ेगी। तुम्हारी बात मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ। तदनंतर उसने प्रकाश को बुलाया और उससे कहा- भाई, बेचारे अंधकार को कष्ट क्यों देता है ? वह बड़ा दुःखी है, तुम्हारे कष्ट से ऊब गया है। पीड़ित होकर मेरे पास आया, उसने तुम्हारे विषय में बहुत कुछ कहा एवं अपना संकट टालने के लिए कहा है। मैंने कोई निर्णय तो नहीं किया, पर उसे आश्वासन दिया है कि तुम्हारी बात सुन करके ही निर्णय दे सकूँगा वह संतुष्ट होकर चला गया। अब तुम बताओ कि निरपराध अंधकार को क्यों कष्ट देते हो ? इससे तुम्हें किस अर्थ की उपलब्धि होती है ?

प्रकाश ने कहा– भगवन् ! मैं तो अंधकार को जानता ही नहीं, न मुझ उसकी पहचान है। मेरा उससे मिलन ही कभी नहीं हुआ है। जब मेरा मिलन ही नहीं हुआ, पहचान ही नहीं है तो कष्ट देने का कैसे प्रसंग आ सकता है ? उसने मेरे संबंध में क्यों और क्या कहा यह मेरी समझ में नहीं आता है। अतः मैं क्या उत्तर दूँ ? हाँ, एक निवेदन अवश्यमेव है कि उसको मैं एक बार देख लूँ तो पहचान हो जायेगी तथा उसी समय, आपके समक्ष ही मैं पूछ लूँ कि मैंने उसे क्या कष्ट दिया है। इससे आपको निर्णय देने में अधिक सुविधा रहेगी।

विशिष्ट पुरुष ने कहा– तुम्हारा यह निवेदन योग्य है, ऐसा ही होना चाहिए। तुम बैठो, मैं उसे बुलाता हूँ।

विशिष्ट पुरुष ने अंधकार को बुलाने के लिए सूचना करवायी कि तुमने जो शिकायत की उस विषय में मैं निर्णय देने चाहता हूँ। तुम जल्दी आओ। प्रकाश यहाँ उपस्थित है। वह कहता है कि मैंने उसे क्या व्यथा–वेदना दी, इसका स्पष्टीकरण मेरे समक्ष हो जाए। वस्तुतः मैं ने कष्ट दिया हो तो मैं क्षमा याचना के लिए तैयार हूँ, जो भी दण्ड मिले उसे भी सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ। प्रकाश कह रहा है– मैं अंधकार को जानता ही नहीं। अतएव आप अति शीघ्र आइए जिससे कि सत्य का निर्णय हो जाए और आपका दुःख समाप्त हो जाए।

इस प्रकार विशिष्ट पुरुष के अभिप्राय को श्रवण कर अंधकार ने कहा– मैं उसके रहते आ नहीं सकता।

इस सूत्र को पाकर विशिष्ट पुरुष ने पुनः पुनः आने का आग्रह किया पर उसका एक ही प्रत्युतर था कि मेरा प्रकाश के सामने आना तो दूर रहा, मैं उसको देख ही नहीं सकता, तो फिर आपके समक्ष मिलना तो असम्भव ही है।

इतना उत्तर आने पर विशिष्ट पुरुष ने यह निश्चय कर लिया कि दुःख की बात सर्वथा निराधार है। यदि उसका मिलन हुआ होता तो इस समय भी वह अवश्य आता। परन्तु वह कह रहा है कि साक्षात् मिलन त्रिकाल में भी संभव नहीं है। तो फिर दुःख देने का तो प्रसंग

ही नहीं आता।

यही अवस्था समीक्षण दृष्टि की, मान के साथी एवं उसके परिवार की है।

समीक्षण दृष्टि रूप समता–प्रकाश के उपस्थित होने पर अंधकार के तुल्य मान एवं उसके सहयोगी टिक नहीं सकते। समीक्षण दृष्टि के साथ सत्पुरुषार्थ करने एवं मान के विपरीत स्वरूप विनम्र भाव को स्थायी रूप से अभिव्यक्त करने पर उसकी सत्ता ही निष्प्राण–सी हो जाती है। अतएव दुर्दांत शत्रु को पराजित करने का सफल प्रयोग समीक्षण दृष्टिपूर्वक सत्–पुरुषार्थ करना ही है।

मान का विष वृक्ष

विष–वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं, यथा– अफीम, आक, धतूरा आदि। ये विष–वृक्ष तो सहज ही अभिव्यक्ति में आ जाते हैं किन्तु कई ऐसे विष–वृक्ष होते हैं कि जिनका ऊपरी हिस्सा तो मनोहर और ललित लगता है किन्तु परिणाम उनका प्रतिकूल होता है। ऐसे विष–वृक्ष की तुलना मान से की जा सकती है। मान रूपी कर्म–स्कंधों के उदय होने पर व्यक्ति को कुछ अच्छापन महसूस होता है। वह सोचता है कि मैं अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छा हूँ, उन्नत हूँ, मेरे सदृश कोई सुष्ठु शरीर वाला नहीं है। विद्वत्ता में मेरे समक्ष कोई टिक नहीं सकता। तप में कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता, मेरी सूझबूझ के तुल्य अन्य किसी की सूझ–बूझ नहीं है इत्यादि अनेक विषयों में उस व्यक्ति की अभिमानवृत्ति एकांगी बन जाती है। दूसरे की तरफ उसकी दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती। अपने आपके भीतर ही वह उत्कर्ष देखता है। जिन विशिष्टताओं को लेकर वह अन्य के मुकाबले में कुछ भी नहीं, उनके विषय में भी वह अपने को दूसरों से विशिष्ट समझता है। अभिमान रूपी विष के परिणामस्वरूप अन्य को यथार्थ रूप में देख नहीं पाता। मध्यस्थभाव रख स्व–पर की तुलना करने में समर्थ नहीं रहता। वह विषमभाव के विष रस का पान करने में निमग्न रहता है।

सम–रस को समुत्पन्न करने वाली ग्रंथियों का संकोच, सिकुड़ाव

होता है, जिससे सम–रस की न्यूनता होने लगती है और अभिमान रूपी विषम–भाव के विषरस का प्राबल्य छाने लगता है। इससे रक्त में कुछ गाढ़ापन आने लगता है, कोशिकाओं में रक्तसंचरण का कार्य कम होने की स्थिति उपस्थित होने से कई कोशिकाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। यथास्थान रक्त का संचरण सम्यक्तया नहीं हो पाने से उन अवयवों, कोशिकाओं में अन्य घातक तत्त्व पनपने लगते हैं। शनैः–शनैः उनकी जड़ जम जाती हैं। तब उनका एकदम आक्रमण होता है। प्रतिकार की शक्ति क्षीण हो जाने से समग्र शरीर रोगमय बन जाता है। यह घातक परिणाम पूर्व में ज्ञात नहीं हो पाता, किन्तु आगे चलकर इस अभिमान रूपी विष वक्ष के विषफलों का भयंकर दुष्परिणाम सामने आता है।

अभिमानी का अनादर एवं दुर्गति

अभिमानी व्यक्ति अभिमान के वशीभूत होकर अभिमान का संपोषण करता हुआ वाणी का प्रयोग करता है। फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों के मन में हीन भावों का प्रादुर्भाव होता है। साथ ही अभिमान करने वाले पुरुष के प्रति जो सद्भावनाएँ होती हैं, वह भी नहीं रह पाती। वह सोचने लगते हैं कि यह व्यक्ति मानव जीवन के अनुरूप मानवता भी नहीं रखता है। ऐसे व्यक्ति से वार्तालाप करना सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि ऐसा पुरुष अभिमान के संपोषक पदार्थों का ही प्रयोक्ता बनेगा जिनमें सत्य का अभाव सा रहेगा। यदि सत्य हो तो वह भी धूमिल बन जाएगा। अतएव इससे अधिक न बोलना ही लाभप्रद एवं श्रेष्ठ है। ऐसा सोचकर अभिमानी व्यक्ति का वह भी अनादर करने में तत्पर बन जाता है। कभी कोई अन्य व्यक्ति वस्तुस्वरूप का कथन करता है, अभिमानी व्यक्ति उस कथन को श्रवण करना कम पसंद करता है या पसंद ही नहीं करता। वह उसी कथन को मुख्यतया प्रदान करता है जिसमें उसके अभिमान का पोषण हो। वह वस्तुस्वरूप के कथनकर्ता के वचनों को महत्व नहीं देता, बल्कि उसका तिरस्कार करने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से समझकर पुरुष उसके सामने सत्य कथन नहीं करेगा। अभिमानी पुरुष वस्तुस्वरूप

के अभाव में अज्ञानता का मुख्य रूप से पोषण करने लगता है। वह विवेकी पुरुषों की नजरों से गिर जाता है। अभिमानी व्यक्ति के नेत्रों से भी अभिमान के भाव अभिव्यक्त होने लगते हैं। नेत्रों के विज्ञान को जानने वाले पुरुष उस व्यक्ति के नेत्रों से उसकी वृत्ति को जान लेते हैं। उस अभिमान की वृत्ति को जानकर उसके प्रति आदर की भावना नहीं रखते। अभिमानी पुरुष अभिमान रूपी मिष्ट जहर के कारण विनयधर्म को विनष्ट सा कर देता है। परिणामस्वरूप उसमें नम्रता का गुण अभिव्यक्त नहीं होता। इस गुण के अभाव में वह गुणी व्यक्तियों का विनय नहीं करेगा, जिससे जन-जन की दृष्टि में गिरा हुआ ज्ञात होगा। नम्रता गुणों के परिणामस्वरूप उपलब्ध होती है। अभिमानयुक्त वृत्ति से उसकी उपलब्धि भी रूक जायेगी। यह भी उसके लिए अपूरणीय क्षति होगी।

अभिमानी व्यक्ति से न तो सही तरह का व्यापार ही होगा और न वह योग्य "सर्विस" ही कर पायेगा। अन्य आर्थिक क्षेत्रों में भी प्रायः पिछड़ जायेगा। आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त व्यक्ति दुनिया का आदरपात्र नहीं बन सकता। ऐसा पुरुष इस वृत्ति के रहते हुए कभी भी उन्नत पद पर नहीं पहुँच सकेगा। समग्र मान की अवस्था तो दूर रही, पर यत्किंचित् मान जो साधारण जनमानस के दृष्टिगोचर नहीं होता, वह भी आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चतर स्थिति में पहुँचने में रुकावट पैदा करता है, जिससे वह कितनी भी कठोरतम साधना क्यों न करले, पर आध्यात्मिक दृष्टि के सर्वोच्च स्थान को धारण नहीं कर पाता। बाहुबलीजी के मन में मानांश विद्यमान रह जाने के परिणामस्वरूप, अरण्य में अत्यंत तीव्र तपश्चरण करने पर भी वे केवलज्ञान की दशा से अछूते रहे। मीठे विष की मात्रा कितनी भी स्वल्प क्यों न हो,. किसी न किसी रूप में उसका प्रभाव पड़ता ही है।

जब अभिमानी व्यक्ति अभिमान के नशे में झूमता हो, उस वक्त उसके नीचगोत्र कर्म का बंध होता है और उस बंध के अनुरूप अन्य वृत्तियाँ घृणा द्वेषादि के रूप में उभरने लगती है। उसी समय में कदाचित् आगामी भव का आयुष्यबंध हो जाए तो वह दुर्गति का पथिक

बन जाता है। दुर्योधन इस तथ्य का उदाहरण है।

मान-समीक्षण

मान का समीक्षण उसी सूक्ष्म प्रज्ञा से हो सकता है जो प्रज्ञा इतनी पैनी, इतनी तीक्ष्ण बन जाए कि वह उदयगत मान के परिणाम को तथा सत्तागत कर्मस्कंधों को भी अवलोकित कर सके। जब उदयगत मान के परिणाम को अवलोकन करने की पैनी बुद्धि तैयार होगी, तब उस पैनी बुद्धि के साथ समता का संबल विशेष कार्यकर होगा। समतामूलक पैनी बुद्धि से किसी भी वस्तु को देखना समीक्षण कहलाता है। यह एक ऐसी तटस्थ दृष्टि है कि जिससे जिस किसी वस्तु के स्वरूप को देखने का अवसर प्राप्त हो उस समय यह समीक्षण दृष्टि किसी भी दीवार में अटके नहीं, किन्तु राग–द्वेष की सशक्त दीवारों के मध्य में से अछूती गुजरती हुई भीतर में प्रवेश कर जाए। कार्य रूप उदयगत मान का समीक्षण करती हुई वह प्रज्ञा कारण रूप मान के कर्मस्कंधों को सत्तागत रूप में भी अवलोकित कर पायेगी। पर वह वहीं पर नहीं अटकेगी। वह उन स्कंधों की कारणभूत चित्त वृत्तियों को भी जान पायेगी। हाँ, उन तक पहुँचने के लिए इस दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण होना अत्यावश्यक है। उस तीक्ष्णता के उपलब्ध होने पर मान से संबंधित समग्र परिवार का वह समीक्षण दृष्टि यथावत् अवलोकन करने लगेगी। उनका समग्र परिवार अवलोकित होने पर उनके प्रति जो राग या द्वेष रूप आकर्षण था, लगाव था वह दूर हो जाएगा, टूट जायेगा। सत्कारात्मक आकर्षक के टूटने से मान अत्यंत हेय रूप में साधक को ज्ञात होने लगेगा और उसका संपरित्याग सहज बन जाएगा। जब तक इस प्रकार की प्रक्रिया नहीं बनेगी तब तक मान की निवृति नहीं होगी, यह विषवृक्ष किसी न किसी रूप में आत्मा को संत्रास उत्पन्न करता ही रहेगा। अतएव साधक को चाहिए कि राग–द्वेष रूपी दोनों तटों से अपनी बुद्धि को विलग करले एवं समीक्षण दृष्टि के रूप में परिणत कर दे। तभी मान संबंधित समग्र क्षतियों से बचाव हो सकेगा। तब जीवन के अंतःस्रोत तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त बन जायेगा। अतएव सर्वप्रथम मान–समीक्षण में समीक्षणदृष्टि

का प्रयोग विधिपूर्वक किया गया तो इस विषयक सफलता– श्री साधक के चरण चूमने लगेगी। पर इस समीक्षण को सफल बनाने के लिए सबसे पहले मान सहिष्णुता का प्रयोग अति आवश्यक होगा।

वैयक्तिक सहिष्णुता

पुरुष (चैतन्य देव) पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से संप्राप्त सुदर्शन शारीरिक पिण्ड का सदा अवलोकन कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। उसको संपुष्ट बनाने के लिए विविध प्रकार के पोषक तत्वों का सेवन करता है। साथ ही अधिक सुष्ठुता प्राप्त करने के लिए बाह्य वस्तुओं का भी उपयोग करता है। आकर्षक वेषभूषा एवं रहन–सहन संबंधी ललित मनोहर, मनमोहक परिवेश संग्रहीत करने में संलग्न रहता है। वह सोचता है कि इससे मेरा व्यक्तित्व निखरे। मैं समाज में सर्वश्रेष्ठ होऊँ। मेरी आज्ञानुसार परिवार वर्तन करे। मुझे सर्वाधिक आदर–सत्कार–सम्मान प्रदान करे। इस भावना से अपने व्यक्तित्व को बढ़ाने की कोशिश करता है पर वह यह नहीं सोच पाता कि व्यक्तित्व को निखारने के ये सभी संयोग समर्थ साधनभूत नहीं हैं। व्यक्तित्व को निखारने के लिए मुझे वास्तविक हेतुओं को जानना एवं संविज्ञानपूर्वक आचरण में लाना है। यह चिंतन तभी बन सकता है जब कि वह व्यक्ति संबंधी मानसहिष्णु बने। व्यक्ति–संबंधी मान सहिष्णुता का कार्य–कारण के रूप में समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे।

इस विषय में समीक्षण दृष्टि जब सक्रिय होगी तब चैतन्य देव के सोचने, समझने के आयाम बदल जायेंगे। वह बाह्य पदार्थों को व्यक्तित्व को निखारने का साधन न मान कर भीतरी साधनों को प्रमुखता देगा। वह यह अवलोकित करेगा कि वह शरीरपिण्ड ही व्यक्तित्व का स्वरूप नहीं है। यह तो प्रत्येक आत्मा को स्वकर्मानुसार समुपलब्ध होता है। किन्तु प्रत्येक आत्मा इस तथ्य से पूरी अवगत नहीं हो पाती। जब चैतन्य देव समीक्षण दृष्टि से समावलोकित करने लगेगा तब उसको व्यक्तित्व के निखार का सही स्वरूप विदित हो पायेगा। चैतन्य देव यह भलीभाँति जान पायेगा कि शरीर पिण्ड

आंतरिक वृत्तियों का परिणाम है। जिस प्रकार की पूर्व में वृत्तियाँ रहीं उन्हीं के अनुरूप कर्मस्कंधों का संचय हुआ। उन्हीं कर्मस्कंधों के उदयगत परिणाम शरीरादि हैं। अतएव शरीर की निर्मिति शरीर के अधीन नहीं, अपितु शरीर की सूक्ष्म वृत्तियों पर आधारित है और वे वृत्तियाँ भी स्वतंत्र नहीं, चैतन्य देव की अधीनता में रहने वाली हैं। चैतन्य देव जब तक स्थूल दृष्टि पर लगाव वाली बुद्धि से काम लेता है तब तक समबुद्धि वाला नहीं बनता। अतएव जो जिसका कारण नहीं है उसको कारण मान बैठता है। जो जिसका स्वरूप नहीं है उसे उसका स्वरूप मान लेता है। जब उसकी बुद्धि में समरसता जागृत होगी तब वह समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होने लगेगा और उसी सम्पन्नता से वह वास्तविक व्यक्तित्व निखार के कारणों का सविज्ञाता बन पायेगा। उस जानकारी में व्यक्तित्व का मूलाधार जीव है। वह चैतन्य देव व्यक्तित्व को परिष्कृत करने के लिए अपनी वृत्तियों में सहिष्णुता रूप वृत्ति का प्रादुर्भाव करेगा। और यह देखना कि मैं जिनके ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता हूँ वह प्रभाव शारीरिक साज–सज्जा से नहीं होगा किन्तु समरसता पूर्वक उन व्यक्तियों की सुख–सुविधाओं का ध्यान रखने पर होगा। मैं अपने लिए जिन सुख–साधनों की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ, उसी प्रकार वे भी अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं की चाह रखते हैं। अतएव मेरा कर्तव्य है कि उन अनिवार्य आवश्यक साधनों की पूर्ति हेतु जो साधन सामग्री है उसके संविभाग का मैं ख्याल रखूँ। मैं लघु जनों से प्यार करूँ, गुरु–वृद्धजनों के चरणों में विनम्र होकर रहूँ। किसी भी सदस्य की सेवा में जरा भी प्रमाद न करूँ। वे मेरी सेवा करें, तब मैं करूँ, ऐसी भावना मेरे मन–मस्तिष्क में लेशमात्र भी न उभर पाए। किसी से कदाचित् कोई त्रुटि हो जाए तो उस त्रुटि का परिमार्जन करने के लिए मधुर स्वर के साथ सुझाव दूँ, निवेदन करूँ, सभी की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति में योगदान देता रहूँ। इस प्रकार की आंतरिक वृत्तियाँ मन–वचन–काया के रूप में परिणत होने पर भी किसी पर अहसान न जतलाऊँ। यह भी विचार न आने दूँ, कि मैं ऐसा कार्य करने वाला हूँ। अपने स्वार्थ को गौण कर

अन्य के हित का कार्य कर रहा हूँ। प्रशंसा या ख्याति की लालसा–आकांक्षा न रखूँ। कोई कितनी भी मेरी प्रशंसा करे उससे जरा भी अहं को जागृत न होने दूँ, हृदय में भी उसे न पनपने दूँ। मेरे समक्ष अनेक व्यक्ति आएँ और कहें कि हमने यह कार्य किया, वह किया आदि और ऐसा कथन करते हुए स्वकीय अहं को प्रदर्शित करें। उस समय भी मन में वस्तुस्वरूप का ज्ञान रखते हुए उन अभिमानियों का तिरस्कार न कर सहिष्णुता का अवलम्बन लूँ। ऐसे प्रसंगों का न समर्थन हो, न उनके प्रति घृणा हो, न विद्वेष ही जगे। इस प्रकार की सहिष्णुता जीवन के कण–कण में व्याप्त हो जाए और साथ ही अन्य धार्मिक सद्‌गुणों का भी जीवन में प्रवेश हो। यथाशक्ति कथनी करनी में एकरूपता स्थापित हो जाए। इन्हीं गुणों से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है।

शरीर पहले रूपवान हो या विरूप हो, वर्ण कृष्ण हो या गौर, वस्त्र सादे–मोटे हों या भड़कीले, सम्मान हो या तिरस्कार, सभी अवस्थाओं में समभावना की अवस्था अभिव्यक्त होने लगे। सत्कार सम्मान में अभिमान की झलक तो दूर रही, भावों में भी अभिमानांकुर स्फुटित न हो पाए, तिरस्कार से हीन भावना भी न पनपने पाए। तभी व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व निखर सकता है। ऐसा व्यक्तित्व निखरने पर भी अहंकार से दूर रहना मान–सहिष्णुता का सूचक बन सकता है। इस प्रकार की वृत्तियाँ ही चैतन्य देव को व्यक्ति–सहिष्णुता की सञ्ज्ञा में खड़ा कर सकती है।

इस प्रकार का व्यक्तित्व उसी पुरुष में पल्लवित–पुष्पित होता है जिसकी प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न हो गयी हो। अतएव जिस पुरुष को मान–सहिष्णु होने रूप व्यक्तित्व का निर्माण करना हो उसे समीक्षण दृष्टि की साधना अवश्यमेव करनी चाहिए, जिससे मान से संबंधित तनाव आदि अवस्थाओं का प्रादुर्भाव न हो पाए।

पारिवारिक मानसहिष्णुता

मानसहिष्णुता गुण से सम्पन्न पुरुष का पारिवारिक सदस्य

समादर करें अथवा न करें, उसकी आज्ञा की पालना करें या नहीं करें, वह इसकी चिंता नहीं करता। ऐसी अवस्थाओं में सामान्य जन हर्षविषाद की तरंगों में बह जाता है। अनादर एवं आज्ञोल्लंघन की स्थिति में उसका अहंकार स्वाभाविक रूप से फुंफकार मार सकता है और वह कह सकता है कि मैं तुम लोगों का इतना हित करता हूँ, समग्र परिवार का भरण–पोषण, संरक्षण करता हूँ, तुम्हारे लिए समग्र जीवन समर्पित करके चल रहा हूँ। मुझे आदर–सत्कार देना तो दूर रहा किन्तु तुम, सबके हित की जो आज्ञा देता हूँ, उस पर भी ध्यान नहीं देते ! मैं अब तुम्हारा काम नहीं करूँगा, इत्यादि अनेक बातें असहिष्णु व्यक्ति बोल सकता है। परन्तु जिसने समीक्षण दृष्टि से मान के परिणाम को जान व देख लिया है वह पुरुष मान को उद्वेलित, उत्तेजित करने संबंधी विचारों को सहन कर सकता है। वह मानसहिष्णुता का आदर्श उपस्थित करता हुआ, परिजनों को उसी निरभिमान, विनीत व विनम्र वाणी में कहेगा– साथियों ! मुझे जिसमें परिवार के लिए हित लगा वैसा कहा। आप लोग भी सुज्ञ हैं, आप को मेरा कथन हितकर प्रतीत न होता हो तो कोई बात नहीं। सबके हित की अन्य कोई बात हो तो आप बतलाएँ। मैं भी उसे जीवन में उतारने का प्रयास करूँगा। मुझे अपनी बात का कोई आग्रह नहीं है और न ही मुझे आज्ञा प्रदान करने का शोक है। केवल कर्तव्यपालना की दृष्टि से जिसमें मुझे हित लगा वह कहा, पर सम्भव है कि मेरे चिंतन का दोष मुझे ज्ञात न हो। दीपक अन्य को तो प्रकाशित करता है परन्तु उसके तल में अंधेरा रहता है। हो सकता है कि वह स्थिति मेरी भी हो। आप लोगों को कोई त्रुटि या भूल ज्ञात हो ता बतलाएँ। कोई संशोधन हो तो दें। मैं उसको सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ। हम सबका उद्देश्य एक ही है कि परिवार में सुख–शांति और अमन–चैन रहे। अपन सभी यथा शक्ति नैतिकता के साथ उन्नति–पथ पर अग्रसर बनें। इस प्रकार मान–सहिष्णु व्यक्ति का कथन परिवार के सभी सभ्यों को आकर्षित करने वाला बन सकता है। सम्भव है, कदाचित् तत्क्षण परिवार के सभ्यों को उसका कोई कथन समझ में न आवे, वे उसके अनुरूप कार्य

न करें, फिर भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नहीं सोचता है कि इन लोगों ने मेरी हितकारी बात भी नहीं मानी। ये कुछ भी समझते नहीं है, अज्ञान से आवृत हैं। मैं इसकी बात को कैसे मान सकता हूँ। ऐसा न सोचते हुए वह यही कहेगा– "बहुत अच्छा, आप लोगों ने सोच समझ कर जो उपाय बतलाया है, उसे अपन सभी तन्मयतापूर्वक आचरण में लायें।' ऐसा कहकर वह उसी प्रकार उनके सुझाव को क्रियान्विति देने लगता है। अपने सुझाये हुए मार्ग को अस्वीकृत करके अयोग्य सुझाव से कार्य करने पर जब कुछ ठोकर लगती है तब परिवार के वे सदस्यगण स्वयं पश्चाताप करने लगते हैं और उसकी बात को याद करके कहते हैं कि– "हमारी भूल हुई। हमने आपकी अवज्ञा की। आपकी आज्ञा शिरोधार्य नहीं की। इसीलिए ठोकर खानी पड़ी। हम अल्पज्ञ हैं, अनुभव विहीन हैं, आपके समान दीर्घ दृष्टि से सोच नहीं पाए। अब हम अच्छी तरह से समझ पाये हैं कि आप का चिंतन ही श्रेयस्कर था। अब आप ही इस बिगड़े कार्य को सुधारने का प्रयत्न करें। हम आगे ऐसा नहीं करेंगे। अपनी अज्ञता को हम समझ चुके हैं। इस प्रकार उनका कथन श्रवण करके भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नहीं कहता कि– "अब मैं क्या करूँ, अपना किया आप भोगो।" इस प्रकार पूर्व की बात उठाकर उन्हें लज्जित न करता हुआ वह कहता है कि– "घबराएँ नहीं। यह भी एक प्रयोग था। प्रयोग से भी अपन सबको शिक्षण मिला। अतः जो कुछ हुआ सो अच्छा ही हुआ। अब हमें ऐसा नहीं, ऐसा करना है।" ऐसा कहकर वह उनके पश्चाताप को भी शमित करता है और प्रकारांतर से भी यह महसूस नहीं होने देता कि तुम लोग कुछ भी नहीं जानते हो।

ऐसा पुरुष ही अपने व्यक्तित्व को मानसहिष्णुता के रूप में निखार सकता है। सुना गया है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के समय अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय कांग्रेस–संघ विराट् रूप में चल रहा था। आंदोलन के समय में सभी वर्गों के गणमान्य व्यक्ति उसमें सम्मिलित थे। सभा में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते। गांधीजी ने एक बार दीर्घदृष्टि से विचार कर एक प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का अभिप्राय अन्य प्रमुख सभासद् भी समझ नहीं पाए और उसे अस्वीकार करते हुए

कहने लगे– बापू, ऐसा प्रस्ताव तो हम स्वीकार नहीं कर सकते। अस्वीकृति श्रवण कर गांधीजी क्षुब्ध नहीं हुए। वे उनके अदूरदर्शिता पूर्ण प्रस्ताव को भी सहर्ष स्वीकारते हुए उसकी क्रियान्विति में अग्रगण्य रहे। ऐसा प्रस्ताव क्यों पारित कर रहे हो, मैं इसमें न सम्मिलित होऊँगा, न सहयोग दूँगा, उन्होंने न ऐसा कथन किया न खिन्नता ही प्रदर्शित की। परन्तु कंधे से कंधा मिलाते हुए चलने लगे। आगे जाकर ठोकर लगी कांगेस को। तब सभी गांधीजी का स्मरण करने लगे। उनकी दीर्घदृष्टि की भूरि–भूरि प्रशंसा होने लगी। सारा वातावरण प्रशंसा के रूप में बदल गया। उसमें भी गांधीजी के मुँह से कोई अहंकारपूर्ण शब्द निःसृत नहीं हुआ। साधारणतया ऐसा समादर प्राप्त होने पर अहंभाव की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से हो जाया करती है। किन्तु गांधीजी ने मानसहिष्णुता का आदर्श समुपस्थित किया। यदि सूक्ष्मता से अन्वेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसके अंतरंग में गांधीजी ने प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के स्वरूप को समझा था और इन सिद्धांतों का यथास्थान उपयोग करने की कला भी समझी थी। इसका बीजवपन उनकी प्रथम विदेश यात्रा के समय जैन संत श्री बेचरजी स्वामी के द्वारा हुआ और युगद्रष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. के प्रसंग से उसे विशेष संबल मिला, ऐसा कुछ लग रहा है।

मान की अवमानना

समीचीन ज्ञान के प्राप्त होने पर विकास का द्वार खुलता है, परन्तु ज्ञान से संबंधित मान की अवमानना होने पर ही यह सम्भव है। वह अवमानना तभी संभव है जब हम अपनी ज्ञानशक्ति से अधिक ज्ञानी का समादर करें। चिंतन करें कि मेरे पास अभी स्वल्प ज्ञान है, मुझसे अधिक अनेक ज्ञानी इस धरा पर विद्यमान हैं। भूत काल में अनेकों ज्ञानी–आप्त पुरुष हो गये हैं जिनका ज्ञान चरम सीमा को संस्पर्श करने वाला था। वर्तमान में ऐसे विशिष्ट पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी उनकी विद्यमानता रहेगी।

न करें, फिर भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नहीं सोचता है कि इन लोगों ने मेरी हितकारी बात भी नहीं मानी। ये कुछ भी समझते नहीं है, अज्ञान से आवृत हैं। मैं इसकी बात को कैसे मान सकता हूँ। ऐसा न सोचते हुए वह यही कहेगा– "बहुत अच्छा, आप लोगों ने सोच समझ कर जो उपाय बतलाया है, उसे अपन सभी तन्मयतापूर्वक आचरण में लायें।' ऐसा कहकर वह उसी प्रकार उनके सुझाव को क्रियान्विति देने लगता है। अपने सुझाये हुए मार्ग को अस्वीकृत करके अयोग्य सुझाव से कार्य करने पर जब कुछ ठोकर लगती है तब परिवार के वे सदस्यगण स्वयं पश्चाताप करने लगते हैं और उसकी बात को याद करके कहते हैं कि– "हमारी भूल हुई। हमने आपकी अवज्ञा की। आपकी आज्ञा शिरोधार्य नहीं की। इसीलिए ठोकर खानी पड़ी। हम अल्पज्ञ हैं, अनुभव विहीन हैं, आपके समान दीर्घ दृष्टि से सोच नहीं पाए। अब हम अच्छी तरह से समझ पाये हैं कि आप का चिंतन ही श्रेयस्कर था। अब आप ही इस बिगड़े कार्य को सुधारने का प्रयत्न करें। हम आगे ऐसा नहीं करेंगे। अपनी अज्ञता को हम समझ चुके हैं। इस प्रकार उनका कथन श्रवण करके भी मानसहिष्णु, पुरुष यह नहीं कहता कि– "अब मैं क्या करूँ, अपना किया आप भोगो।" इस प्रकार पूर्व की बात उठाकर उन्हें लज्जित न करता हुआ वह कहता है कि– "घबराएँ नहीं। यह भी एक प्रयोग था। प्रयोग से भी अपन सबको शिक्षण मिला। अतः जो कुछ हुआ सो अच्छा ही हुआ। अब हमें ऐसा नहीं, ऐसा करना है।" ऐसा कहकर वह उनके पश्चाताप को भी शमित करता है और प्रकारांतर से भी यह महसूस नहीं होने देता कि तुम लोग कुछ भी नहीं जानते हो।

ऐसा पुरुष ही अपने व्यक्तित्व को मानसहिष्णुता के रूप में निखार सकता है। सुना गया है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के समय अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय कांग्रेस–संघ विराट् रूप में चल रहा था। आंदोलन के समय में सभी वर्गों के गणमान्य व्यक्ति उसमें सम्मिलित थे। सभा में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते। गांधीजी ने एक बार दीर्घदृष्टि से विचार कर एक प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का अभिप्राय अन्य प्रमुख सभासद् भी समझ नहीं पाए और उसे अस्वीकार करते हुए

कहने लगे– बापू, ऐसा प्रस्ताव तो हम स्वीकार नहीं कर सकते। अस्वीकृति श्रवण कर गांधीजी क्षुब्ध नहीं हुए। वे उनके अदूरदर्शिता पूर्ण प्रस्ताव को भी सहर्ष स्वीकारते हुए उसकी क्रियान्विति में अग्रगण्य रहे। ऐसा प्रस्ताव क्यों पारित कर रहे हो, मैं इसमें न सम्मिलित होऊँगा, न सहयोग दूँगा, उन्होंने न ऐसा कथन किया न खिन्नता ही प्रदर्शित की। परन्तु कंधे से कंधा मिलाते हुए चलने लगे। आगे जाकर ठोकर लगी कांगेस को। तब सभी गांधीजी का स्मरण करने लगे। उनकी दीर्घदृष्टि की भूरि–भूरि प्रशंसा होने लगी। सारा वातावरण प्रशंसा के रूप में बदल गया। उसमें भी गांधीजी के मुँह से कोई अहंकारपूर्ण शब्द निःसृत नहीं हुआ। साधारणतया ऐसा समादर प्राप्त होने पर अहंभाव की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से हो जाया करती है। किन्तु गांधीजी ने मानसहिष्णुता का आदर्श समुपस्थित किया। यदि सूक्ष्मता से अन्वेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसके अंतरंग में गांधीजी ने प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के स्वरूप को समझा था और इन सिद्धांतों का यथास्थान उपयोग करने की कला भी समझी थी। इसका बीजवपन उनकी प्रथम विदेश यात्रा के समय जैन संत श्री बेचरजी स्वामी के द्वारा हुआ और युगद्रष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. के प्रसंग से उसे विशेष संबल मिला, ऐसा कुछ लग रहा है।

मान की अवमानना

समीचीन ज्ञान के प्राप्त होने पर विकास का द्वार खुलता है, परन्तु ज्ञान से संबंधित मान की अवमानना होने पर ही यह सम्भव है। वह अवमानना तभी संभव है जब हम अपनी ज्ञानशक्ति से अधिक ज्ञानी का समादर करें। चिंतन करें कि मेरे पास अभी स्वल्प ज्ञान है, मुझसे अधिक अनेक ज्ञानी इस धरा पर विद्यमान हैं। भूत काल में अनेकों ज्ञानी–आप्त पुरुष हो गये हैं जिनका ज्ञान चरम सीमा को संस्पर्श करने वाला था। वर्तमान में ऐसे विशिष्ट पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी उनकी विद्यमानता रहेगी।

मैं भी अपने सत्पुरुषार्थ के माध्यम से ज्ञान–ज्योति को अधिकाधिक प्रकट करूँ। ऐसा तभी संभव है जब कि मैं अपने स्वल्प ज्ञान से संबंधित मान को सत्कार न दूँ। जब ज्ञान से संबंधित मान का प्रादुर्भाव होने लगे उस वक्त मैं उसकी उपेक्षा कर दूँ। उसकी उपेक्षा करना भी मान की अवमानना करना है। ऐसा नहीं करने पर ज्ञान संबंधी विकास के द्वार बंद होंगे, परिमाणस्वरूप स्वल्प ज्ञान में ही जीवनी शक्ति को समाप्त करने का अवसर प्राप्त हो जायेगा। विशाल और विराट् ज्ञान अवज्ञा होगी। मैं उससे वंचित रह जाऊँगा। उसकी उपेक्षा से ज्ञानावरणीय कर्म प्रगाढ़ बनेंगे जिससे विराट् व्यापक ज्ञानशक्ति की आसातना होगी। उस आसातना का परिणाम भी बहुत दूरगामी होगा। मेरा स्वल्प ज्ञान भी अज्ञान की श्रेणी में परिणत हो जायेगा। फलतः इन्द्रिय विषयों को प्रश्रय मिलेगा। उनको प्रश्रय मिलना जीवन को अंधकारमय बनाना है। अनंत जन्मों तक पुनः सम्यग्ज्ञान–ज्योति की उपलब्धि दुष्कर बन जायेगी। अतएव मुझे ज्ञान का गर्व कर मान संबंधी कूड़े–करकट को पनपने नहीं देना है। भले ही वर्तमान में मेरा ज्ञान अन्य साथियों की अपेक्षा अधिक चढ़ा–बढ़ा हो, पर है वह स्वल्प ही। ज्ञान की भी चरम सीमा अमुक बिन्दु पर प्राप्त होती है। उस चरम सीमा को प्राप्त ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान होगा। इस स्वल्प ज्ञान से प्रत्यक्ष में भी मैं सूक्ष्म तत्त्व का अवलोकन नहीं कर पाता, किन्तु अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। अनुमान भी कभी–कभी हेतु की कमजोरी से अस्पष्ट रह सकता है। किन्तु उसके सहारे, अर्थात् निश्चयात्मक अनुमान से सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप को समझा जा सकता है। निश्चित अनुमान के जनक वे हेतु प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहे हैं। यथा– मानव–मानव में शारीरिक बनावट की समता होने पर भी बौद्धिक समानता नहीं पायी जाती, बल्कि बौद्धिक तरतमता युक्त उपलब्ध होती है। कई पुरुष समान साधनों से सम्पन्न होकर भी ज्ञान के क्षेत्र में समान नहीं पाए जाते हैं। एक ही कक्षा के विद्यार्थी सम अध्ययन करने पर भी सम अंकों से उत्तीर्ण नहीं होते। उनकी उत्तीर्णता विविध रूपों में दृष्टिगत होती है। एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में "फर्स्ट पोजिशन"

प्राप्त करता है। दूसरा विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी में भी पर्याप्त अंक नहीं ला पाता। थोड़े–से नम्बरों से द्वितीय श्रेणी को प्राप्त होता है। तृतीय श्रेणी वालों में भी विविध प्रकार की तर–तम योग्यता होती है। वैसे ही प्रथम व द्वितीय श्रेणी में भी अनेक प्रकार की योग्यताएँ भिन्न–भिन्न रूप में उपलब्ध होती हैं। इससे आगे की ओर दृष्टिपात किया जाए तो अध्यापक वर्ग में भी सम अंकों से उत्तीर्ण होने एवं समान उपाधि प्राप्त होने पर भी कई अध्यापक स्मरणशक्ति में तीव्र पाये जाते हैं तो कई स्मरणशक्ति में हीन। उनमें कई अनुभूति से विशेष ज्ञान की उपलब्धि कर पाते हैं कई व्यावहारिक ज्ञान से प्रायः अनिभज्ञ होते हैं तो कई व्यावहारिक ज्ञान में प्रवीण होते हैं, पर अनुभूति के ज्ञान से वंचित। इसी प्रकार अन्यान्य पुरुषों को भी देखा जा सकता है। कई आचरण के ज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी उसको जीवन में स्थान नहीं दे पाते। कई आचरण ज्ञान की दृष्टि से कमजोर होने पर भी आचरण में बढ़े–चढ़े पाये जाते हैं। इस प्रकार जगत् में ज्ञान संबंधी विविध तरतमता दृष्टिगोचर होती है। तब सहज ही अनुमान होता है कि जहाँ ज्ञान में तरतमता है वहाँ परिपूर्णता भी अवश्यंभावी है, क्योंकि तारतम्य की विश्रान्ति, पराकाष्ठा या परिसमाप्ति परिपूर्णता में ही पायी जाती है। यथा– जुगनू के प्रकाश की अपेक्षा चिनगारी का प्रकाश अधिक होता है, उससे दीपक का तेज बढ़ा–चढ़ा होता है। दीपक की अपेक्षा न्यून परिधि वाला बल्ब भी विशेष प्रकाश को लिए हुए रहता है। उससे भी मरक्युरी का प्रकाश विस्तृत होता है। आकाश के अंदर चमकने वाले तारों का प्रकाश स्वाभाविक होने के साथ–ही–साथ मरक्युरी के प्रकाश की अपेक्षा अधिक बढ़ा हुआ एवं विस्तृत होता है। पर उसकी भी रोशनी को परास्त करने वाला चन्द्र का प्रकाश भू–मंडल तक प्रसरित हो जाता है। उससे भी अधिक सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक तौर से प्रखर होता है। वर्तमान में आम जनता की दृष्टि में प्रकाश की परिपूर्णता सूर्य में समाहित हुई दृष्टिगत होती है। इस परिपूर्णता में प्रकाश संबंधी तारतम्य पुष्ट हेतु है। वैसे ही ज्ञान की तरतमता रूप हेतु से ज्ञान की परिपूर्णता निश्चय ही किसी विशिष्ट पुरुष में उपलब्ध

होगी। उस ज्ञान की परिपूर्णता अनंतानंत सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक विस्तृत होगी क्योंकि उसके साथ अज्ञान का सम्मिश्रण नहीं होगा। उसकी तुल्यता वाला दृष्टांत चर्मचक्षु में कोई उपलब्ध नहीं होता, अतएव सूर्य का दृष्टांत चर्मचक्षु वालों को समझने में सुगम होने के कारण दिया गया है। दृष्टांत सभी एकदेशीय ही होते हैं। अतएव ज्ञान की ज्योति से सम्पन्न मानव ज्ञान के तारतम्य का समीक्षण करता हुआ परिपूर्णता की ओर देखता रहे, अग्रसर बनता रहे तो ज्ञान संबंधी मान का अवमूल्यन सिद्ध हो जाता है। उसके लिए अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं रहती। इस वृत्ति से चलने वाला पुरुष मान–समीक्षण सही तरीके से कर सकता है। समीक्षण दृष्टि के माध्यम से ही मान रूपी मधुर विष को समाप्त किया-जा सकता है। समीक्षणदृष्टि को ज्ञान से संबंधित कर अवश्यमेव एक–न–एक दिन अनुत्तर ज्ञान की परिपूर्णता से सम्पन्न बना जा सकता है। उसी सम्पन्नता को शास्त्रकारों ने "केवलज्ञान" के रूप में निर्दिष्ट किया है। उस ज्ञान की उपलब्धि करने वाले वीतराग देवों में तीर्थंकर देव प्रमुख होने से उनका कथन जहाँ होता है वहाँ अन्य सभी केवलियों का समावेश सहज ही हो जाता है। अतएव मान रूपी शत्रु को जीवन से विसर्जन करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि तीर्थंकर देव की आसातना से बचे, अर्थात् तीर्थंकर देवों का सत्कार सम्मान करता हुआ उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करे। मान को हेय तत्त्वों के अंतर्गत जानता, मानता हुआ उसका सदा अवमूल्यन करता रहे, ताकि उसका अंकुर सम्वर्धित न हो पाए।

सद्विचार से मान-समीक्षण

विचार : आत्मा की परिणति विशेष

विचार प्रवाह चेतनाशून्य जड़ तत्त्व का गुण नहीं है। यह चेतना का विकसित गुण है। इसका प्रवाह जड़ तत्त्व से संबंधित होकर प्रवाहित होता है। यथा :– पानी प्रथम सरल पथ से चलता है। जिधर का भू–भाग पोला, नीचा व कमजोर होता है उधर वह शीघ्र प्रवाहित हो जाता है। आगे चलकर बड़ी नदी का रूप धारण कर लेता है। वह

नदी टेढ़ी–मेढ़ी–तिरछी बहती है। उस प्रवाह से कोई सरल सीधी नदी का रूप नहीं बनता, न ही दूर स्थित पदार्थों को उससे विशेष लाभ पहुँच पाता है। वह पानी कभी कठिन भू–भाग का भी भेदन करके रास्ता बना लेता है। किन्तु उस कठोर भू–भाग में भी आपेक्षिक कठोरता हो तो ही वह मार्ग बनाता है, पर वह भी अव्यवस्थित अनेक रूपों में। जिससे साधारण पुरुष यह जान नहीं पाता कि इसका उद्‌गम या स्रोत–पथ कहाँ हैं ? यद्यपि पानी का स्वरूप मिट्टी–पत्थर से भिन्न है, और भिन्न स्वभाव में ही वह टेढ़ा–मेढ़ा, अव्यवस्थित रूप से बहता है। इसी प्रकार विचारों का प्रवाह चैतन्य का स्वभाव है। पर वह चैतन्यभिन्न अचेतना–जड़ के साथ प्रायः बहता है। जड़ एक रूप नहीं, विभिन्न और विवर्ण है।

चैतन्य गुण से शून्य होने के कारण जड़ तत्त्व पोचा है। स्वयं की ज्ञानवान् कर्तृत्व शक्ति के अभाव में अव्यवस्थित है। जिधर भी कोई उसको बहाना चाहे, बहा सकता है। विचारधारा प्रायः सुगम स्थान व अधिक परिचय वाले पदार्थों में अधिक बहती हैं।

रूपवान् जड़ तत्त्व चर्मचक्षु में दृष्टिगत होने वाला तत्त्व है। अरूपी अवशेष चार इन्द्रियों और मन के माध्यम से ग्रहीत किया जाता है। इन्द्रियों के माध्यम से मन जिस जड़ तत्व के प्रति अधिक आकर्षित है, आसक्ति पूर्वक उसे ग्रहण करना चाहता है। इच्छानुकूल उसको ग्रहण नहीं कर पाने से विचार संकल्प–विकल्प का रूप ले लेते हैं। राग–द्वेष के खेमों में काम करने लगते हैं। राग–द्वेषमय वृत्ति के साथ विचारों का प्रवाह जब प्रवहमान होने लगता है, तब विचार भी अव्यवस्थित आढ़े–टेढ़े, ऊँचे–नीचे प्रवाहयुक्त हो जाते हैं, जिससे विचार–प्रवाह का स्वरूप व्यवस्थित नहीं रह पाता।

आढ़े–टेढ़े विचारों में राग–द्वेष की परिणति के कारण दोषों का समुपस्थित होना स्वाभाविक है। उन्हीं विचारों की पकड़ से जब किसी एकांगी विकारी तत्त्व को अभीष्ट मानकर प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है उस समय मान का अंधकार उसकी विवेक–दृष्टि को

आच्छादित कर देता है। किन्तु जब सद्विचार रूपी सूर्योदय के प्रकाश की किरणें प्रसरित होने की अवस्था में पहुँचती है, उस समय मान का अंधकार पलायन करने लगता है, समीक्षण दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। उसका उपयोग करने पर जिस वस्तु को अभीष्ट माना था वही वस्तु विकार युक्त दृष्टिगत होने लगती है। जैसे–जैसे सद्विचारों के साथ समीक्षण दृष्टि पूर्वक गहनता में प्रवेश होता जाता है वैसे–वैसे विचारों में घुले राग–द्वेष का स्वरूप, टेढ़ा–मेढ़ापन दृष्टिगत होता जाता है। जिससे वह राग–द्वेष की दीवारों को यथावत् देखता हुआ असद् विचारों के आढ़े–टेढ़े प्रवाह को हटाकर व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। अव्यवस्थित विचारों से जो शक्ति क्षीण होती हुई जा रही है। उसका विज्ञान हो जाने से सद्विचारों का कलापूर्ण पद्धति से व्यवस्थितीकरण करता हुआ उन्हें एकरूपता का स्वरूप प्रदान करता है, यथा– अस्त–व्यस्त तरीके से बहने वाले जलप्रवाह को विवेक–शील निपुण इंजीनियर बांध बनाकर सुनियोजित व व्यवस्थित बनाता है, जिससे जनहिताय विद्युत सिंचनादि कई कार्य सम्पन्न होने लगते हैं। उसी जलप्रवाह का सदुपयोग होने से जैसे जनसमुदाय अधिक लाभान्वित होता है वैसे ही विवेकशील चैतन्य देव सद्विचारों के नियोजीकरण से जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण तत्व का सिंचन करता है। परिणामस्वरूप जीवन में किसी भी निमित्त के कारण उत्पन्न हुआ मान का अंकुर मुरझा कर विलय को प्राप्त हो जाता है।

मानविहीन जीवनचर्या से स्वयं का जीवन तो सद्गुणों से आलोकित होता ही है, साथ ही परिवार, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भी उसका प्रभाव होना स्वाभाविक है। ऐसे सद्विचारवान् पुरुष के सम्पर्क से अन्यों को भी जीवन में उभरने वाली मान–वृत्तियों को अवमूल्यन करने में काफी हद तक सफलता प्राप्त होती है। अतएव सद्विचारों से मान–समीक्षण करने की कला प्रत्येक पुरुष को सीखनी चाहिए। इसके लिए साधन समीक्षण ध्यान पद्धति है। उसका नियमित, बिना अंतराल के, सत्कारपूर्वक अभ्यास आवश्यक है।

मान संबंधी कर्म–वर्गणाओं के उदित होने पर उनका असर

अध्यवसायों पर पड़ता है। अध्यवसाय विचारों के साथ समन्वित होकर मानसतंत्र को घेर लेता है। मानसतंत्र से संयुक्त रहने वाले जितने भी केन्द्र, उपकेन्द्र हैं, वे सभी प्रभावित होते हैं। उस समय अंधापन–सा छा जाता है। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो दृष्टि मान के रंग से रंगीन बन जाती है। परिणामस्वरूप पुरुष प्रत्येक रूप को मान के रंग से रंगा देखने लगता है। अपने रूप से तुलना करने लगता है कि मैं कैसा रूपवान् हूँ। मेरे रूप की समकक्षता में किसी का रूप नहीं है, यह सब दृष्टिगत होने वाले रूपविहीन हैं, नाकुछ हैं, घृणित हैं। इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इनके रूपों को देखने की अपेक्षा नहीं देखना ही अच्छा हैं। जिस प्रकार रात्रि का राजा उल्लू सूर्य की किरणों को भँवरे के काले पैरों के समान कृष्णवर्ण देखता है। अंधकार उसको अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि सूर्य के प्रकाश में उसके नेत्रों की ज्योति काम नहीं करने से वह अंधा सा रहता है। वह अंधकार को पसंद करता है। लगभग यही दशा मानांध पुरुष की बन जाया करती है।

सूर्य की अनुपस्थिति में रात्रि के अंधकार परिपूर्ण रहने से चोर–डकैत, व्यभिचारी आदि पनपने लगते हैं, शिकारी पशु अपने शिकार की खोज में चल पड़ते हैं। मच्छर, खटमलादि क्षुद्र जन्तु भी अंधकार में आक्रमण करना प्रारंभ कर देते हैं। इससे कई प्राणियों का विनाश, सम्पत्ति का अपहरण, सदाचार का विलोप, निरपराध प्राणियों का विघात और मच्छरादि के जहर से मलेरिया ज्वर आदि हो जाता है। उससे लीवर खराब हो जाता है, आंतरिक यंत्र में अव्यवस्थितता आ जाती है, अनेक रोगों की उत्पत्ति होने लगती है, जो प्राणी वर्ग के लिए घातक सिद्ध होती है। वैसे ही मानांधकार में भटकने वाला पुरुष जन–जीवन का घातक, सद्गुणों का अपहरणकर्ता, दुराचार का जनक तथा अन्य अनेक प्राणियों को संक्लेश पहुँचाने के साथ ही प्रदूषण का सर्जन करने वाला है। उससे आबालवृद्ध मनुष्य ही नहीं, अन्य छोटे–मोटे सभी प्राणी भी संक्लेश पाते हैं। मानसिक रोगादि के शिकार बन अशांति का अनुभव करने लगते हैं। यथा– कपिला दासी

के निमित्त से अभया महाराणी की जो स्थिति बनी वह संक्षिप्त में इस प्रकार है–

पतिपरायण, धर्मनिष्ठ सतीत्व को धारण करने वाली सेठानी मनोरमा सार्वजनिक उत्सव के प्रसंग पर अपने पुत्रों के साथ रथ में बैठ उत्सव देखने जा रही थी। महारानी का रथ उसके आगे ही चल रहा था। कपिला बैठी थी। सहसा उसकी दृष्टि कांत, कमनीय, मनोहर मनोरमा के पुत्रों को देखकर उसी ओर आकर्षित हो गयी। चित्त एकाग्र बन गया। उत्सव का दृश्य विस्मृत हो गया।

अभया महारानी ने पूछा– कपिले ! तुम्हारी दृष्टि वहाँ कैसे टिक गयी ! तब कपिला ने पूछा– यह रथ किसका हैं ? यह कौन सौभाग्यशालिनी नारी है ? ये पुत्र किसके हैं ? यह कैसी प्रसन्नता अनुभव कर रही है ? इत्यादि।

महारानी ने कहा– अरी कपिले– तू कैसी विचित्र नारी है ! दुर्भावना से तेरी स्मृति विलुप्त हो गयी है। तू इतनी अनभिज्ञ बन गयी ! यह नारी राजा और प्रजा के बीच सामंजस्य रखने वाले, समतापूत नगर श्रेष्ठी की है। पति–व्रता, धर्मपरायण है। इसी के ये पुत्र हैं। महारानी का कथन कपिला के लिए हास्य का कारण बन गया। ठहाका लगा हँसती हुई वह कहने लगी– वाह–वाह मेरी स्मृति तो विस्मृत हुई, पर आपकी स्मृति अयथार्थ–असत्य की पोषक है।

अभया ने कहा– कैसे ?

कपिला मनोभावों को छिपाती हुई कहने लगी– रहने दीजिए, इस प्रकरण को समाप्त कीजिए।

महारानी उसका हाथ पकड़ती हुई कहने लगी– समाप्त कैसे करूँ ? मेरी स्मृति अयथार्थ–असत्य की पोषक कैसे है ? अपनी बात सिद्ध कर ?

महारानी की उत्कण्ठा प्रबल देख उसने हास्यरस के साथ कहा– सत्य, कटु हुआ करता है। उस कटुता को आप कैसे पचा

पाएँगी ? स्मृति को चोट पहुँचेगी, अहंकार तिलमिला उठेगा।

महारानी ने कहा– नहीं, तुझे बताना पड़ेगा।

तब कपिला ने कहा– आप सेठ का गौरवानुभूतिपूर्वक मुझे परिचय दे रही हो और उसकी पत्नी को पतिव्रता बतला रही हो, वह सर्वथा असत्य–अयथार्थ है। इसका पति तो पुरुषत्वहीन है, हींजड़ा है। उसके पुत्र कैसे हो सकते हैं ?

महारानी ने कहा– तू कैसे कह रही है कि वह पुरुषत्वहीन है। मैं मान नहीं सकती। तू भ्रमित है।

कपिला ने अपने अहं का पोषण करते हुए घटित वृत्तांत बतलाया और कहा– उसने स्वयं ने ही अपने को पुरुषत्व हीन स्वीकार किया, मुझे छोड़ चला गया। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

महारानी ने मुस्कान के साथ कहा– कपिले। तू नारीकला में निपुण नहीं है। सेठ सदाचारी निरभिमान वृत्ति का सुघड़ पुरुष है। उसने सुघड़तापूर्वक तेरे जाल को विछिन्न किया है। अपने आपको तू त्रियाचरित में निपुण मान अभिमान करती है। उस निरभिमानी पुरुष ने तेरे अभिमान को चूर–चूर कर दिया।

इतना सुनते ही उसका अभिमान फुफकार मारने लगा। कहने लगी– यदि मैं त्रिया चरित्र में फैल हो गयी तो उसको परास्त करने वाला विश्व में कोई नहीं हो सकता है। महारानी तपाक से बोली– रहने दे। क्यों मान में चूर हो रही है।

तब उसने कहा– बताइये महारानीजी, कौन है वह जो उसे परास्त कर सके ?

महारानी का मान संबंधी मानसतंत्र सक्रिय बन चुका था। वह उसी मानांधता की दशा में बोल उठी– अन्य नारियों को मैं क्या बताऊँ, मैं स्वयं ही बैठी हूँ।

कपिला ने आवेश दिलाते हुए कहा– यदि आप सफल हो

जाएँगी तो मैं अपना मस्तक मुण्डवा लूँगी।

चुनौती स्वीकार ली गयी।

महारानी षड्यंत्र रच अन्य महोत्सव के प्रसंग पर पौषध शाला में ध्यानस्थ बैठे नगर सेठ सुदर्शन को अपने भवन में बुलवा लेती है। त्रियाचरित्र का जाल फैलाती है। परन्तु सेठ सुदर्शन विनम्र, सरलता से उसे बड़ी माता कह पुकारता है। अनेकानेक युक्तियाँ रचने पर भी रानी को सफलता नहीं मिली। तब सेठ को सूली पर चढ़वाने की आज्ञा प्रसरित करवा दी। उससे छोटे से लेकर बड़े तथा सभी को कितना दुःख, संताप, वेदना हुई होगी, इसका अनुभव अनुभूतिपूर्वक किया जा सकता है, कथन नहीं किया जा सकता।

मानांध व्यक्ति मान के अंधकार में किस प्रकार अन्यों को उद्वेलित करते हैं, इस उदाहरण से यह समझा जा सकता है। सेठ ने मानरहित नम्रता, सरलता से पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया। अपने को मानांधकार से अनुरंजित नहीं होने दिया। परिणामस्वरूप सूली का सिंहासन बना। अतएव मानांधकार के विनाश के लिए निरभिमान वृत्ति का समीक्षण दृष्टि के माध्यम से निरंतर अभ्यास करते रहना चाहिए।

सदाचार-मान का उपमर्दक

सदाचार एक ऐसी तीक्ष्ण छैनी है जो प्रतिपक्षी आचरण का समूल उन्मूलन कर देती है, अर्थात् बुरे आचरण को समूल नष्ट कर देती है। मानव–जीवन के उन्नयन के लिए यह एक निरवद्य अस्त्र है जिसे दूसरे शब्दों में अशस्त्र भी कह सकते हैं। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्रों से जो कार्य किया जाता है उससे कई गुणाधिक यह अशस्त्र कार्य करने में समर्थ है। तीक्ष्ण शस्त्र शरीर एवं स्थूल वस्त्रों का छेदन–भेदन करता है। किन्तु अशस्त्र दुर्गुणों को आर्द्र कर संशोधित कर डालता है। जिन तत्त्वों से सद्गुण, दुर्गुण की संज्ञा धारण करते हैं, उन्हीं दुर्गुणों का परिमार्जन कर यह अशस्त्र स्वच्छ निर्मल बना देता है। इस अपेक्षा से यह सद्गुणों का संरक्षक, स्थूल शारीरिकादि अवयवों का भी

संपोषक है। बाह्य शस्त्रों से भौतिक ध्वंस होता है। विध्वस्त तत्त्व अन्य जनों को दूषित करते हैं। शारीरिक एवं मानसिक विविध प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु यह अशस्त्र तीक्ष्ण शस्त्र से उत्पन्न व्याधियों को शांत कर पवित्र, सुगंधमय वायु मंडल जन–मानस में तैयार करता है।

स्थूल शस्त्र भयावह एवं बहु व्ययसाध्य होते हैं किन्तु यह सच्चरित्र रूप अशस्त्र आह्लादप्रद एवं निर्भयता का प्रतीक है। स्थूल शस्त्र विष के तुल्य हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज, एवं राष्ट्र के प्राणियों में विभेद, द्वन्द्व, संघर्ष, विग्रह प्रतिरोध की भावना और वैरानुबंधी वैर की सर्जना कर भवभव में चैतन्य देव को रुलाने वाले हैं। किन्तु सदाचार रूपी अशस्त्र अमृत की उपमा से भी उपमित होने वाला नहीं है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में व्याप्त विविध भेदों को अभेद में, द्वंद्वों को अद्वंद्व के रूप में, संघर्ष को स्नेह में, विग्रह को मैत्री रूप में, प्रतिरोध को अनुरोध में और वैरानुबंध के स्थान पर निर्बैरता, निर्भयता और आत्मिक स्वरूप को विकसित करने वाला है। जन्म, जरा, मृत्यु आदि व्याधियों को समाप्त कर भवभ्रमण के जाल से विमुक्ति दिलाने वाला है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा पद का भाजन बनाने वाला है।

सदाचरण कल्पतरु से भी बढ़कर है। स्वपर–मनोवांछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त यही है कि वह वास्तविक हो, आत्म–प्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकड़े नहीं। कक्षाएँ बन सकती हैं, विभेद नहीं, अर्थात् शक्ति–सामर्थ्यानुसार इसे अपनाया जा सकता है। अधिक मात्रा में जीवन में इसका जितना प्रवेश होगा उतना ही जीवन दुर्गुणों से हीन–संशुद्ध बनेगा। दुराचरण की अनेक विधाएँ हैं। उनमें कई असभ्य रूप में हैं तो कई सभ्यता के रूप में प्रचलित हैं। कई दृष्टि पथ में आने वाली हैं तो कई सामान्य जन के दृष्टिपथ में नहीं आने वाली है। कई आंतरिक गूढ़ता को लिए हुए होती है।

आंतरिक गूढ़ता को लिए हुए चलने वाली दुराचरण की विद्याएँ अधिक खतरनाक होती हैं। उनमें से एक मान संबंधी विद्या भी है। इस आंतरिक मान संबंधी विद्या का समूलोच्छेद भावात्मक सदाचरण रूप अशस्त्र की छैणी ही कर सकती है।

जब आंतरिक मान की विद्याएँ विच्छिन्न हो जाती हैं तो उनके साथ पनपने वाले अन्य अशिष्टाचार भी समाप्त हो जाते हैं। अतएव चैतन्य देव को सदाचार रूप अशस्त्र का आश्रय लेना चाहिए। वही अचूक, अमोघ, सूक्ष्म, लोकोत्तर शस्त्र है आत्म–संरक्षण के लिए।

मान से विपन्नता

मनुष्य पूर्व जन्मों में उपार्जित प्रकृष्ट पुण्य के परिपाक से सम्पन्न बन करके आया है। उसे मानवीय तन की जो उपलब्धि हुई है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। अनन्त पुण्य के संचय, अंतराय कर्मों के क्षमोपशम तथा विशिष्ट नाम कर्मादि के उदय से मानव तनरूप पर्याय की प्राप्ति होती है। मानवीय तन की तुल्यता अन्य किसी योनियों में संप्राप्त तन से नहीं की जा सकती। पशु या नारक अवस्था में प्राप्त तन, मानव तन के मुकाबले में कोई महत्व नहीं रखता। यद्यपि देव–तन भी अधिक पुण्य के संचय से आत्मा को मिलता है, किन्तु जो खूबी, जो महत्ता मानव तन में रही हुई है वह देव–तन में नहीं।

अमूल्यता :

अन्यान्य सांसारिक पदार्थों की कीमत आँकी जा सकती है। उनका व्यापार एवं विनिमय किया जा सकता है। किन्तु मानवीय जीवन का मूल्य नहीं आँका जा सकता। इसे अमूल्य निधि के रूप में कहा एवं स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी अमूल्य उपलब्धि चैतन्य देव को अति ही दुर्लभता से होती है। इस शरीर के अंतरंग की संरचना का अवलोकन देखते ही बनता है। शरीर से संबंधित अंतरंग में रहे हड्डी, रक्त–मांसादि तत्त्वों का अवलोकन कर पाते हैं विशिष्ट चिकित्सक। परन्तु अति सूक्ष्म संवेदनशीलता को वे भी अपने औजारों

से नहीं देख पाते। ऐलोपैथिक सिद्धांतों के माध्यम से अनुमान से ही कुछ जाना जा सकता है। मस्तिष्क की अति सूक्ष्म संरचना एवं तत्संबंधी कई ऐसी ग्रंथियाँ हैं जिनकी शोध अभी वैज्ञानिक नहीं कर पाए। उन ग्रंथियों के कार्य और प्रणालियों का विधिवत् पूर्ण अनुमान भी नहीं कर पाए। मस्तिष्क की संरचना तथा उससे संबंधित अन्य विषयों का तो कहना ही क्या ? यद्यपि संरचना का प्रधान उपादान भौतिक मैटर है किन्तु इस भौतिक उपादान को इस रूप में संरचित करने वाला सर्जक विज्ञानवान् चेतना है। उसका तो कहना ही क्या ? अतएव समग्र विश्व की वस्तुओं के साथ उसकी तुलना करें तो इसकी समकक्षता में कोई भी अमूल्य निधि उपलब्ध नहीं हो पाएगी। इस अमूल्य निधि रूप सम्पत्ति से सम्पन्न चैतन्य देव है, इसका क्या मूल्यांकन किया जाए ? कहाँ इसका उपयोग करें ? किस रूप में करें ? कितना करें ? जिससे इस अमूल्य संपत्ति का अवमूल्यन न हो पाए। चैतन्य देव यदि वस्तुस्थिति का यथार्थ विज्ञान नहीं रखने वाला होगा तो.... विपन्नता।

अस्वाभाविक पर्याय का सम्मान करने से स्वाभाविक पर्याय का अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। जीवन में स्वाभाविक तौर पर अनेक वृत्तियाँ अध्यवसायों का संबल पाकर विकासोन्मुख होती हुई आगे बढ़ती हैं, उनसे संपुष्टि प्राप्त करती हुई पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है।

किन्तु मानवृत्ति के अधीन रहने वाले पुरुष का ध्यान मुख्यतया उसी तरफ आकर्षित रहता है। उसी तरफ वह अग्रसर बनता रहता है। उन वृत्तियों को ज्यों–ज्यों अध्यवसायों को संबल मिलने लगता है त्यों–त्यों चैतन्य देव की अन्य वृत्तियाँ उपेक्षित बनती जाती है, गौण होती जाती हैं। इससे विकास की प्रक्रिया रुक जाती है। उसमें रुकावट ही नहीं, मुर्झाहट भी आने लगती है। वे सिकुड़ने लगती हैं। अंततोगत्वा रोग ग्रस्त बन जाती हैं। तब जीवन की अमूल्यता एवं तदनुरूप सम्पन्नता विपन्नता के रूप में परिणत हो जाती है। परिणाम–स्वरूप जो अन्य स्वाभाविक कार्य निष्पन्न होने वाले होते हैं,

उनमें भी अवरोध पैदा हो जाता है। मानवृत्ति की अंगडाई उग्र–रूपता के साथ जीवन में व्याप्त होने लगती है। उस अवस्था में चैतन्य देव शरीर से संबंधित सम्पन्नता से विपन्न (दरिद्र) बनता है। आत्मा अपने आपको मानाभिनिवेश की वृत्ति से पवित्र गुणों से विपन्न बनाने लगती है।

अहंवृत्ति का संपोषण होते रहने से वैभाविक गुण भेद की तरह पनपने लगते हैं। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ कर्मावरण से आच्छादित होने के कारण उनमें विपन्नता आ जाती है। अतएव मान का परम्परा से इतना घातक असर होता है कि जिससे मानसिक, वाचिक और कायिक वृत्तियाँ दरिद्र बनती हुई पुरुष के समग्र जीवन को ही विपन्न बना देती है। मान को प्रश्रय प्रदाता व्यक्ति वाणी के माध्यम से अन्य को तिरस्कृत करने लगता है, जिससे उसके द्वारा अर्थ संबंधी उपलब्धि होती हुई रूक जाती है। फलस्वरूप मानव को आर्थिक दृष्टि से भी विपन्नता आ घेरती है। रात और दिन मस्तिष्क में चलने वाली मानवृत्ति के कारण मस्तिष्क की वृत्तियाँ भी दोषयुक्त बन जाती हैं। उस दोष का परिमार्जन यथार्थ तरीके से न होने से मानस तंत्र जो नित नयी नूतन वृत्तियों का आविष्कार करने वाला है, उन आविष्कारों को कर नहीं पाता। इस प्रकार मान से दूरगामी परिणाम जीवन की विपन्नता के रूप में परिणत हो जाते हैं। साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या, चरम शरीरी विशिष्ट महात्मा भी अपनी चरम उपलब्धि पाने में असमर्थ रहते हैं। यह अनुपलब्धि सर्वोत्कर्ष गुण की विपन्नता कही जा सकती है। बाहुबली स्वामी का उदाहरण हमारे समक्ष है।

मान एक पागलपन :

चैतन्य देव मानव तन में रहता हुआ जब स्वाधीन वृत्ति से जीवन का संचालन करता है। तब वह जीवन व्यवस्थित एवं प्रामाणिक होता है। उस जीवन का नियंत्रण चैतन्य देव के अधीन रहने से विकृतियों का बोल–बाला नहीं हो सकता है। किन्तु जब स्वयं का नियंत्रण न रहकर पर का नियंत्रण प्रादुर्भूत होता है, तब जीवन पराधीन बन जाया

करता है। जीवन में मानवृत्ति का यदि साम्राज्य रहता है तो वह अपने अनुकूल कार्य करती हुई अपना पोषण करना चाहती है वह अन्य वृत्तियों को विकसित होने में रुकावट डालती है। मानवृत्ति अपना असर मानसतंत्र पर छोड़ती है। मानसतंत्र जो अन्य कार्य करने का सामर्थ्य रखता था, वह सामर्थ्य मानवृत्ति के नियंत्रण में रहने लगता है। जब कभी भी मानवृत्ति को चोट लगने की स्थिति सामने उपस्थित होती है तो उस मानवृत्ति से प्रभावित मनुष्य उस चोट का प्रतीकार करने में लग जाता है। क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए ? इस प्रकार के विभ्रम से विमूढ़ हो जाता है। यह विमूढ़ता भी एक प्रकार का पागलपन है। अन्यान्य प्रकार के पागलपन की तरह यह पागलपन भी स्व–पर की विनम्र वृत्तियों का अवमूल्यन करने वाला होता है। अकृत्य को भी कृत्य मान चल पड़ता है। दुर्योधन जुए में छल–बल से विजयी होकर क्या कुछ कर गुजरा, यह विषय इतिहस एवं पुराणों के पृष्ठों से जाना जा सकता है। उसमें अभिमान का इतना पागलपन आ गया कि त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण के समझाने के प्रयत्न भी विफल रहे। उसने आखिरी उत्तर में कहा– मैं बिना युद्ध, सूई की अणी पर आवे उतनी भी भूमि देने को तैयार नहीं हूँ।" इसी पागलपन के कारण यह धरा अनेक अप्रतिम योद्धाओं के रक्त से रंजित हुई, अनेक परिवारों की दुर्दशा हुई, अनेक सन्नारियों को वैधव्य का दुःख भोगना पड़ा। भारतीय भूमि की समृद्धता छिन्न–भिन्न हुई। सती द्रौपदी का भरी सभा में चीर हरण करने का दुःसाहस भरा दृश्य उपस्थित हुआ। यह मान के पागलपन का ही परिणाम कहा जा सकता है। अतएव प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपनी वृत्तियों का संचालन स्वयं चैतन्य देव के नियंत्रण में करे। अपनी शक्तियों को मान के अधीन समर्पित न करें। यह तभी हो सकता है जब मान के पागलपन का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन किया जाए। यही एक दृष्टि ऐसी है कि जो वस्तु का यथावत् बोध कराती हुई चैतन्य देव की शक्तियों का सदुपयोग करवा सकती है।

मान-प्रतिशोधात्मक आग :

मानवीय जीवन अधिकांशतः मानवृत्ति के अधीन बना रहता है।

उसे अन्य बातों का विशेष ध्यान रहे या न रहे, पर मान की पुष्टि का अवश्य ख्याल रहता है। शिकार के उद्देश्य से भ्रमण करने वाली बिल्ली का मुख्य लक्ष्य शिकार ही रहता है। अन्य कार्य उसके गौण रूप में रहते हैं। उसे जहाँ शिकार की आशा होती है वहाँ वह अपने शरीर को संकोच करके चुपचाप बैठ जाती है– शिकार को पकड़ने। मूषिक भद्रिक भाव से इधर–उधर ज्यों ही दौड़ने लगता है त्यों ही उसे झपट कर पकड़ लेती है और अपनी खुराक बना लेती है। वैसे ही यह मान रूपी बिल्ली मस्तिष्क में चुपचाप बैठी रहती है। यत्किंचित् भी अपमान कोई करता है तो वह उस अपमानकर्ता पर लपक–झपट्टा मारती है। उसे दबोच अपनी ख़ुराक ग्रहण करना चाहती है। उसके अभाव में प्रतिशोध की आग सुलगने लगती है। उस आग की चिनगारी स्वल्प निमित्त पाकर भी दानवता का रूप धारण कर लेती है। बड़े–बड़े योद्धा उस आग में झुलसते रहते हैं। निरपराध प्राणी भी इसकी लपटों से बच नहीं पाते। यथा– पाण्डवों ने भवन बनवाया। विविध कलापूर्ण चित्र उसमें चित्रित करवाये। वह दर्शनीय स्थल–सा बन गया। आयोजन रखा गया, सभी को निमंत्रित किया गया। भवन में किसी प्रकार की कोई कमी किसी की जानकारी में आये तो सुधारा जा सके। दुर्योधनादि कौरव भी पहुँचे। भवन का अवलोकन करते भीतरी भाग में प्रवेश किया। रचना अनूठी, अद्भुत थी, फर्श में पानी का भ्रम हो गया, संभाल कर चले। उस समय के दृश्य को देख, द्रौपदी के हँसी के फव्वारे छूट पड़े और सहसा मुँह से निकल गया– "अंधे के बेटे अंधे ही होते हैं।" शब्द क्या निकला मानो अग्नि में घी उंडेल दिया गया। घाव पर नमक डालने का काम बन गया। कौरवों के चित्त में प्रतिशोध की अग्नि लगी और महाभारत छिड़ गया। आधुनिक काल के, विश्व के दो महायुद्धों के पीछे भी चिंतन करने पर यही कारण दृष्टिगत होगा। अतएव साधक को प्रतिशोध की ज्वाला से बचने के लिए सतत सावधान जागरूक रहना चाहिए। पर यह तभी संभव है जब कि मान का स्वरूप समीक्षण दृष्टि से अवलोकित किया जाए। साधक को प्रतिशोधात्मक अग्नि उत्पन्न होने के प्रसंग पर चिंतन करना चाहिए कि मेरी प्रतिशोधात्मक, विद्वेषात्मक

नन की वृत्ति से क्या समस्या हल हो जायेगी ? नहीं। क्या इसके लिए इसी प्रकार चिंतन, व्यवहार आवश्यक है ? पूर्व में ऐसी वृत्तियों से कौन–कौन सी समस्याएँ हल हुई, ऐसा नहीं लगता तो क्या रुकावट उलझन पैदा हुई ? हाँ, इससे समस्या सुलझती नहीं, जटिल अवश्य हो जाती है। रामायण के युद्ध की समस्या सुलझने के सन्निकट पहुँच गयी। मन्दोदरी ने वस्तु स्थिति का ज्ञान कराकर रावण को राम के पास भेजने की तैयारी कर ली। वह पलंग से उठा, किन्तु मान ने फुफकार मारी, वह द्वार से बाहर नहीं निकल सका और समस्या अधिक जटिल बन गयी। उसका कितना भयंकर परिणाम आया, वह सबको विदित ही है। अतएव इस प्रकार का समीक्षण प्रति समय साधक को करते रहना चाहिए और मानस–तंत्र–समीक्षण लोक से सावधानी पूर्वक अवलोकन करता रहे तो इस दुःसाध्य प्रतिशोधात्मक ज्वाला को उपशांत–प्रशांत किया जा सकता है।

मान–साम्राज्य :

सम्राट् अपना साम्राज्य देश–विशेष पर ही रख सकता है। उसमें भी समग्र जनता पर नहीं। जनतंत्रीय पद्धति में मुख्यमंत्री अमुक प्रांत में बहुमत पर अधिकार रख सकता है, सभी जनसमुदाय पर नहीं। राष्ट्रपति की भी प्रायः यही अवस्था पायी जाती है। लेकिन मान का साम्राज्य मानव–समुदाय पर ही नहीं, अन्य प्राणियों पर भी न्यूनाधिक रूप में छाया हुआ है। इसका प्रभाव कई व्यक्तियों पर तो इतना अधिक रहता है कि उनका प्रत्येक कार्य उसकी अधीनता में ही निष्पन्न होता है। यह एक अजेय योद्धा कहा जा सकता है। यह किस विधि से अपना प्रभाव डालता है, इसका उल्लेख करना कठिन सा है। कभी–कभी तो विशिष्ट प्रज्ञासम्पन्न पुरुष भी इसकी गहनता को समझने में अक्षम रहता है। यह भी एक कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार न कार्य कर पाता है, न सफलता को ही वरण कर पाता है और अंत में मन मसोस कर, हताश होकर बैठ जाता है। चिंतन अवश्य चलता रहता है कि अमुक कार्य अमुक विधि से करूँ, किन्तु तदनन्तर सोचता

है कि इस विधि से करने में मेरी प्रतिष्ठा को क्षति तो नहीं पहुँचेगी ? जिस विधि से कार्य करने में मान को ठेस पहुँचे, ऐसी विधि से कार्य करना मेरे लिए कतई योग्य नहीं। फटे कपड़े पहन लेना, अन्य अनेक कष्ट उठा लेना स्वीकार्य है, पर मान को अलग रखना स्वीकार्य नहीं। इस भावना से वह समाज में विशेष महत्व का स्थान बना नहीं पाता और न पारिवारिक जनों का कृपापात्र ही बन सकता है। यह तो दूर, धर्मपत्नी का भी प्रिय नहीं बन सकता। क्योंकि इन सब कार्यों में अर्थ की प्रधानता रहती है। उस अर्थ की उपार्जना स्वयं के माने हुए मान को सुरक्षित रखते संभव नहीं। मानावस्था में कार्यकुशलता हासिल कर नहीं सकता, विधि हाथ लग नहीं सकती और उस विधि के बिना अर्थ की साधना सध नहीं सकती है। अर्थाभाव में सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक जनों का स्नेह एवं स्वयं की पत्नी आदि का भी अनुराग प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव मान का साम्राज्य कितना अहितकर, कितना व्यापक, विशाल है यह सहज ही समझा जा सकता है। समीक्षणदृष्टि धारण करने वाला साधक समभावपूर्वक इसका अवलोकन करता है। समान भाव से व्यक्ति, पारिवार, समाज एवं राष्ट्र की सेवा करता हुआ स्वयं की गृहीत प्रतिज्ञाओं का अनुपालन करता है। शुभ–भाव से कर्तव्य की परिपालना करता हुआ ऊँची–नीची परिस्थितियों को समभाव से देखने लगता है। ऐसा साधक बिना अर्थ के ही सबका प्रीतिपात्र बन जाता है जो जीवन के लिए अति ही महत्वपूर्ण, अनूठी उपलब्धि कही जा सकती है। अतएव प्रत्येक साधक को मानसमीक्षण के लिए प्रतिदिन समय निर्धारित कर आंतरिक जिज्ञासापूर्वक सत्कार के साथ अभ्यास करने की आवश्यकता है।

लक्ष्य–बाधक मान :

"प्रयोजन मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् मंद से मंद बुद्धि वाला भी प्रयोजन के बिना कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। प्रयोजन भी एक प्रकार का लक्ष्य होता है। जिसकी जितनी क्षमता, योग्यता होती है वह उतना और वैसा ही लक्ष्य निर्धारित करता है। उसमें अच्छापन भी होता

है एवं बुराई भी। किसी भी लक्ष्य को साधने के लिए अपने जीवन को विनम्र बनाना ही पड़ता है। उसके बिना लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। किंतु मानव का स्वभाव प्रायः मान से अनुरंजित रहता है। जरा–सी भी उपलब्धि हुई नहीं कि मानव का मन अहंकार की वृत्ति में लिप्त होने लगता है और लक्ष्यकी सिद्धि की स्वल्प उपलब्धि को ही लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि लक्ष्यपूर्ति से जो संप्राप्ति होने वाली थी उसकी तुलना में वह यत्किचित् भी प्राप्त कर नहीं पाता। जिस उपलब्धि के कारण अहं उभरा था वह उपलब्धि भी समाप्त हो जाती है। वह न इधर का रहता है, न उधर का। न लक्ष्य की सिद्धि कर पाया और न उपलब्धि को सुरक्षित ही रख पाया। अतएव साधक को अपने साध्य के प्रति सदा सर्वदा निष्ठा रखते हुए नम्रतापूर्वक उस के प्रति समर्पित होकर चलना चाहिएं। साध्य भी अस्थायी–विनश्वर स्वभाव वाला नहीं होना चाहिए। स्थायी, अविनाशी एवं चरम लक्ष्य को सदा सर्वदा सम्मुख रखते हुए समीक्षण दृष्टिपूर्वक व्यवहार की निष्ठा रख कर तदनुरूप क्रियान्विति में तन्मयता लाना नितांत आवश्यक है। उस लक्ष्य को साधते समय साधना में लक्ष्य से विचलित करने के लिए कितनी ही रुकावटें आएँ, प्रतिकूल परिस्थितियों, आपत्तियों, विपत्तियों का अम्बार लग जाए, विपरीत वायुमंडल की भयंकर आंधी क्यों न आये, उन सभी परिस्थितियों में यत्किंचित् भी विचलित न होता हुआ साधक उस विपरीत वायुमण्डल का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे। विषम भाव उत्पन्न न होने दे, न लक्ष्य की ओर जहाँ से प्रयाण किया था उससे पूर्व की ओर झांके। झाँकना तो दूर रहा, ऐसा अनुचिंतन भी न करे कि इस पवित्र लक्ष्य की ओर बढ़ने से पूर्व मेरे सामने कोई भी विपरीत वायुमण्डल नहीं था, पर जैसे ही इस पथ की ओर प्रयाण किया कि कंटकाकीर्ण पथ ही दृष्टिगत हुआ। अतंएव इस पथ की अपेक्षा पूर्व का पथ ही अच्छा था।

इसके विपरीत ऐसा संचिन्तन करे कि यह सब शुभ लक्ष्यसाधना के राजपथ पर आगे बढ़ने के लिए परीक्षा के क्षण हैं। परीक्षा के इन क्षणों में यत्किंचित् भी विचलित नहीं होकर अडिगता रखना ही जीवन

है। शुभ पथ पर चलते विपरीत वायुमंडल को देख घबराना या पीछे हट जाना वस्तुतः जीवन ही नहीं है। गर्म हवा यानी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण पुनः वापिस लौटना वीरों का नहीं, कायरों का काम है। वीर पुरुष तो सत्कार–सम्मान को पीठ के पीछे रखता है, उसे ठोकर मार कर चलता है। अपमान, तिरस्कार, निंदादि विपरीत परिस्थितियों की सन्मुखता में विशेष साहस बटोर, दृढ़ता के साथ अग्रसर होता है। अपने आंतरिक संबल की अभिवृद्धि करता हुआ समीक्षण दृष्टि से देखता रहता है कि मेरे मन में साध्य के प्रति विनय भाव जो "सर्वतोभावेन" समर्पणा की भावना थी उसमें कहीं मोच तो नहीं आयी, उस अविनश्वर साध्य के प्रति उदासी भाव आया हो तो यह समझें कि मेरी वृत्ति साध्य के प्रति समर्पित नहीं रही। मेरे विनम्रभाव में जितने अंशों में न्यूनता आई, उतने अंशों में छिपे हुए मान ने काम किया। वही मान अन्य के कंधे पर शस्त्र रख कर मुझे साध्य से विचलित करना चाहता है। प्रकारांतर से पुरुषत्वहीन बना कायर की श्रेणी में सम्मिलित करना चाहता है। पर मैं पूर्ण सावधान हूँ। पर्दे के पीछे रहने वाले मान को मैं लक्ष्य का अवरोधक ही मानता हूँ। अतएव विनम्र भाव की आड़ में रहे हुए मान को आदर न देता हुआ मैं श्रेष्ठ वीरों की सी सुदृढ़ चाल से लक्ष्य की ओर प्रगतिशील बनता रहूँगा। इस कार्य में एक जीवन नहीं, अनेक जीवन भी खप जाएँ तो भी मैं प्राणवान् पुरुषत्व को गौण नहीं होने दूँगा। प्रत्येक अवस्था में लुके–छिपे मान को उसी दृष्टि से अवलोकित करता रहूँगा। तभी मैं साध्य के अवरोधक मान का भलीभाँति समीक्षण कर पाऊँगा।

मान की नीति :

जीवन में धर्म से अनुप्राणित नीति बहुत बड़ा महत्व रखती है। व्यक्ति का जीवन इससे पवित्र, स्वच्छ, स्वावलम्बी तथा साहसिक बनता है। धर्म से अनुप्राणित होने के कारण आध्यात्मिक बल की दृष्टि के साथ ही मन प्रफुल्लित–प्रसन्न रहता है। जो जीवन व्यवहार सद्भावनापूर्वक बनता है वह आसपास के वायुमंडल पर गहरा प्रभाव डालता है। इर्दगिर्द का जन समुदाय उसके प्रति आदरान्वित होता है।

उस पुरुष का सत्त्व अन्य के लिए आदर्श संबल का काम करता है। क्योंकि धर्म से अनुप्राणित नीति प्रत्युपकार की भावना से रहित होती है। अर्थ परायणता से परे होती है। ऐसी नीति में यश–कीर्ति आदि की कामना या भौतिक लाभ की लालसा नहीं रहती। उस नीति की विद्यमानता में प्रति--पक्षी या अप्रतिपक्षी का समन्वय समीक्षण के साथ बनता है। इस प्रकार के जीवन–व्यवहार से आत्मबल, मनोबल प्रबल बनने के साथ ही शारीरिक बल भी उनका अनुसरण करने लगता है। उस प्रक्रिया का प्रभाव मन एवं मानसतंत्र को आकर्षित करता है। मानसतंत्र शरीर के प्रत्येक तंत्र को प्रभावित करता है, जिससे शारीरिक, वाचिक तथा बौद्धिक शक्ति का भी संचय होने लगता है एवं जीवनविकास में चार चाँद लग जाते हैं। किन्तु मान इस प्रकार के उदात्त जीवन का संहारक बनता है। मान के स्फुलिंग जीवन के किसी कोने में क्यों न गिरें, असावधानी रहने पर धीरे–धीरे विस्तृत आकार को धारण कर समग्र जीवन को उसकी उदात्तता, शूचिता एवं समृद्धता को भस्मसात् कर देते हैं। मान की सत्ता जम जाने पर नीति में स्वार्थ एवं प्रत्यपुकार पाने की भावना का विष घोलना प्रारंभ कर देती है। फिर उसकी प्रवृत्ति सिद्धि–वधू की अपेक्षा यशकीर्ति स्वरूपा कुलटा को वरने के लिए अधिक सक्रिय बनती है। ऐसी नीति धर्मशून्य होने से व्यक्ति के जीवन को ख़तरा पहुँचाती है। धर्मविहीन नीति द्विरंगी होती है। वह अनेक रूप में प्रकट हुआ करती है। ऐसी नीति का अनुसर्ता पुरुष अपने जीवन में समरसता, एकरूपता ला नहीं पाता।

इस प्रकार की नीति अंतर के किसी भी क्षेत्र विशेष में क्यों न रहे़, वह मान का अनुसरण करने वाली होती है। अंत़र में बैठा हुआ मान अपने आपको प्रसिद्ध करने के लिए विविध उपाय करता रहता है। उस मान की वृत्ति मन को दूषित किए बिना नहीं रहती। मन दूषित होने से मानसतंत्र भी उससे अप्रभावित नहीं रहता। उसकी जड़ें भावमन में रही हुई होती हैं, क्योंकि मान संबंधी कर्म–वर्गणाएँ आत्म–प्रदेशों के साथ ओतप्रोत रहती हैं। वे भावमन को अनुरंजित

करने में पीछे नहीं रहतीं। जब मान का प्रभाव आत्मप्रदेशों एवं भाव मन तक व्याप्त हो जाता है तब आत्मिक शक्तियाँ क्षीण हो कमजोर बनने लगती हैं। परिणामस्वरूप भावमन का समीक्षण नहीं हो पाने से उसमें नियंत्रणशक्ति नहीं रहती। अनियंत्रित अवस्था में भावमन द्रव्यमन के साथ संयुक्त होकर मान संबंधी प्रदूषण तैयार करता है। वह प्रदूषण शारीरिक तंत्रों को प्रभावित करता है, और उस मान का अनुसरण करने वाली नीति धर्मविहीन होकर मान की क्षुधा शांत करने के लिए मन में विविध विचारों का सर्जन करती हैं। परिणामस्वरूप मन मान की अनुवृत्ति करता हुआ उसकी क्षुधा शांति के लिए विचारता है कि लोगों के साथ नैतिकता का ऐसा व्यवहार करूँ जिससे जन समुदाय तारीफ करने लगे। जितनी तारीफ बढ़ती जायेगी उतनी ही प्रतिष्ठा बढ़ेगी। उस प्रतिष्ठा की छत्रछाया में अर्थप्राप्ति होगी एवं सम्मान न करने वाले को दबाने में सुविधा रहेगी। यह दशा साधारण व्यक्तियों को नैतिकता मालूम पड़ती है पर वास्तव में वह नैतिकता न होकर मानतृप्ति के लिए कुटिल चाल ही होती है। इस प्रकार का व्यवहार ऊपर से भले ही फुलावट का दीखता हो, परन्तु भीतर में मुर्झाहट, अप्रसन्नता एवं खिन्न भावों का सर्जन करता है। मानसतंत्र मानसिक रोगों से ग्रसित हो जाता है और अन्य जीवनतंत्र को भी निर्बल व रोगग्रस्त बना देता है। भीतरी तंत्रों की व्याधि से शरीर रोगों का आलय बन जाता है। मन का स्वास्थ्य भी स्वस्थ नहीं रहता। उसके स्वस्थ न रहने से वाणीतंत्र भी विषमता से अनुप्राणित होकर शब्द का प्रयोग करता है। भीतरी दोषों के रोग से अनुप्राणित होने के कारण वह शब्दप्रयोग भी व्यक्ति, परिवार और समाज के शुद्ध वायुमंडल को दूषित करने में पीछे नहीं रहता। शब्द में अनुरंजित गंदगी बाहरी वायुमंडल को भी दूषित करती हुई शारीरिक, मानसिक, वाचिक तथा आध्यात्मिक बल हीनता को पनपाती है। ऐसें व्यक्तियों के समूह से पारिवारिक कर्तव्यपरायणता को आघात लगता है। समाज की नीतियाँ धर्म–रहित एवं दोषपरिपूर्ण बनती है। इससे राष्ट्र और अन्ततः विश्व भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। परिणामस्वरूप जनजीवन में अनैतिकता, अशिष्टाचार, धोखाधड़ी, राष्ट्रीय भावना का विलोपन, झूठ प्रपंच, छल आदि फैलते हैं। वातावरण समग्र प्राणियों के

लिए अशांतिदायक बनता है। इस प्रकार की धर्मविहीन नीति कुटिलता को धारण कर धर्मप्राण नीति का हनन करने वाली होती है, इसके मूल में मान की वृत्ति ही छिपी होती है। अतएव साधक ही नहीं, प्रत्येक मानव को चाहिए कि वह मान का समीक्षण अत्यंत पैनी बुद्धि से करें। आत्मविस्मृति को दूर कर सम्यक् आत्मशक्ति का नियंत्रण भावमन पर रखे। भावमन का प्रवाह मानसतंत्र को संचालित करने के लिए बहे। उस समय उस प्रवाह में कहीं मान के रंग का मिश्रण तो नहीं हो रहा है। इसका समीक्षण प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतिक्षण करता रहे। ऐसी जागृति आने पर मान की नीति–घातकता ही नहीं, अन्य अनेक घातक वृत्तियों का भी संशोधन होगा एवं स्व–पर–हित के साथ–साथ वास्तविक सुख एवं आनंदानुभूति का आस्वादन जीवन में स्थायित्व को प्राप्त होगा। परन्तु यह तभी शक्य है जबकि मान का समीक्षण भलीभांति सम्यक् प्रकार से कर लिया जाए।

मान-बंधन का मूल :

चैतन्य देव अपने मूल रूप में सब प्रकार के बंधनों से मुक्त, स्वाधीन चिदानन्दमय है। परन्तु स्वयं की अजागृति से अनादिकालीन बंधन में जकड़ा हुआ है। इस बंधन की मूल भित्ति विकारमय अध्यवसाय है। अध्यवसाय विविध परिस्थितियों में अनेक प्रकार के बनते हैं। उन अध्यवसायों में अन्य अनेक हेतुओं के अतिरिक्त मान भी कई दृष्टियों से एक प्रमुख हेतु है। इसकी प्रमुखता में कर्म–बंधन भी अधिक होते हैं। तथा निकाचित कर्मों के बंधनों में भी मान अपना प्रमुख पार्ट अदा करता है। जब–जब भी मान को चुनौती मिली, तब–तब इसने अपनी सुरक्षा के लिए अपने साथी क्रोध को आगे कर दिया। मानों इसी को अस्त्र बनाकर मान नहीं देने वाले पर क्रोधाग्नि की बरसा की। कंस, कालिनाग, जरासंध एवं शिशुपाल इसके प्राचीन प्रतीकों में से कुछ हैं। अतीत शताब्दियों में अन्वेषण करने पर अन्य अनेक प्रतीक पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी चीन, रूस, अमरीका आदि देशों के नेता इसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उन लोगों के

अतिरिक्त अनेक आत्माओं के विविध प्रकार के कर्मबन्धन, सामाजिक रीति-रिवाजों के बंधन, व्यापार संबंधी नीतियों के जटिल बंधन, पेचीदे कानूनों के बंधन भी हैं। प्राणियों का जीवन इन अनेकानेक बंधनों से अधिकाधिक ग्रस्त होता जा रहा है। परिणामस्वरूप विचारों की विविध प्रकार की जटिलता, कुटिलता, विलासिता, धनलोलुपता, यशो-कीर्ति की लिप्सा, एक-दूसरे को पछाड़ने की दुर्नीतियाँ, वासनाओं की उद्दाम दासता आदि हेतुओं के कारण मानव में विविध प्रकार की ग्रंथियां निर्मित होती जा रही हैं। इन ग्रंथियों के बंधन से जकड़ा हुआ जनसमुदाय विविध प्रकार के रोगों से इतना ग्रस्त बना गया है कि जिनका निवारण नहीं हो पा रहा है। कई तो असाध्य रोगों से पीड़ित होते हुए अपने जीवन का ही नाश कर डालते हैं। कई रोग निवृत्ति के उपायों की बदौलत अन्य अनेक रोगों को पैदा कर लेते हैं। दुःसाध्य जटिल रोगों के निदान को खोजने पर उनकी जड़ों में मुख्यतया मान ही पाया जायेगा। अतएव इन सब दुरवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिए सम्यक निदान करने वाले मानवों की नितांत आवश्यकता है। ऐसे मानव तभी निर्मित हो सकते हैं, जब कि इस विषयक विज्ञान की अभिरूचि रखने वाले व्यक्तियों को शिक्षित किया जाय। इसके लिए वर्तमान में प्रचलित शिक्षा प्रणाली काम नहीं आ सकती एवं अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा निर्मित साहित्य भी पूर्ण सहायक नहीं हो सकता। किन्तु इस विषय की स्वतंत्र शिक्षणशालाएँ, आश्रमादि का निर्माण करना आवश्यक है। आध्यात्मिक, प्रणालीयुक्त मनोविज्ञान के तौर-तरीकों से कोमल वयस्क छात्रों को बाल मंदिर की तरह शिक्षण दिया जाए, तरुण एवं प्रौढ़ पुरुषों के लिए उनके अनुरूप विधाएँ तैयार की जायें, वृद्धों के लिए अनुकूल वातावरण के साथ संस्कारों को परिवर्तित करने का सत्पुरुषार्थ किया जाए। इसका प्रारंभ आंतरिक रूचि वाले साधकों से चालू किया जाए। वे साधक समीक्षण ध्यान की विद्या से सर्वप्रथम अपने आपका अनुशीलन करें। स्वयं के भीतर के सभी बंधनों को तटस्थ भाव से विदित करें। एवं ग्रंथिभाव को विमोचित करने के लिए उसके विधि-विधानों को योग्यतम साधकों के सान्निध्य में सीखें।

तदनंतर विचार संबंधी अन्यान्य ग्रंथियों का विमोचन करते हुए अंतरपथ के राही बनें, और अपने आप को समीक्षण ध्यान से आप्लावित कर लें। तत्पश्चात् अन्य साधक पुरुषों को भी उसी तरह का शिक्षण दें। शिक्षण देने वाले साधक पुरुषों के लिए परिवार, समाज एवं राष्ट्र की तरफ से यथायोग्य योगदान मिलना चाहिए। आर्थिकादि दृष्टि की समस्या का समाधान समीचीन तरीके से हो जाने पर उनका ध्यान आर्थिक समस्या की तरफ जाना सम्भव न रहने से उनकी सारी एनर्जी (ऊर्जा) अन्वेषणपूर्वक अध्ययन–अध्यापन में लग सकती है। उन समता साधक पुरुषों की शिक्षा पर्याप्त उच्च स्तर तक हो जाने पर वे साधक फिर उन उपर्युक्त मानजनित बंधनों को समता–जीवन के धरातल पर, समता–समाज–रचना के साथ समीक्षण दृष्टि से करने का सत्पुरुषार्थ अपनाएँ। यह व्यवस्था दुःसाध्य हो सकती है किन्तु असंभव नहीं। यदि मानव समुदाय समग्र बंधनों से विमुक्त होकर सदा–सदा के लिए बाधा रहित सुख एवं समृद्धता से सम्पन्न होना अंतःकरण से चाहता हो तो वह अविलम्ब इस साधना में जुट जाए अथवा जब भी वह ऐसा चाहेगा, जब अन्तर की भूख पैदा होगी तब भी यही उपाय कामयाब होगा। अन्य किसी भी प्रकार का उपाय समग्र बंधन मुक्ति का बन नहीं सकता, यह ध्रुव–अटल सत्य है। आज चाहे किसी को विश्वास हो या न हो, पर जिस दिन भी समग्र बंधनों से विमुक्ति होगी तो समताभावपूर्वक समीक्षण दृष्टि की पराकाष्ठा से ही होगी।

मान–जीवन की विकृति :

जीवन में विविध परिस्थितियाँ उभरती हैं। उन अनेकानेक परिस्थितियों में विकारग्रस्त परिस्थिति जटिल एवं विषम होती है। इस विकारग्रस्त अवस्था के भेद–प्रभेद अनेकानेक, अनगिनत भी हो सकते हैं। उन भेद–प्रभेदों में तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि अनगिनत भेद–प्रभेदों को कुछेक प्रमुख भेदों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उन प्रमुख भेदों में से मान भी एक भेद है। इसका भी बहुत बड़ा विस्तार है। इसकी शाखाएँ प्रशाखाएँ विश्व में

फैली हुई हैं। इस मान रूपी विकार का प्रभाव प्रायः न्यूनाधिक रूप में सभी सांसारिक आत्माओं पर छाया हुआ है। उनमें बौद्धिक विकासयुक्त मानवों में उसका प्रभुत्व विशेष रूप में पाया जाता है। इस विकार के प्रबल उद्भव के आवेग में अन्य विकार कभी–कभी गौण पड़ जाते हैं इस विकार की प्रबलता में व्यक्ति अपने अमूल्य, महत्त्वपूर्ण जीवन को रौंद–विनष्ट कर डालता है। अतएव प्रज्ञा सम्पन्न साधक पुरुष को चाहिए कि इस प्रकार के मान संबंधी सैन्य–दल का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे। इस अवलोकन के बिना इस विकार की सूक्ष्म जड़ें दृष्टिगत नहीं हो पाएँगी और जड़ों के अवलोकन के बिना उनका उन्मूलन नहीं किया जा सकेगा। उन्मूलन के बिना उसका रस मंद नहीं होगा। विकार की जड़ें हरी–भरी बनेंगी, वे जड़ें समग्र मानसतंत्र को रस प्रदान करने में पीछे नहीं रहेंगी। मानस–तंत्र का मान संबंधी विकार परिस्थिति वश न्यूनाधिक रूप में कभी–कभी हटता हुआ भी दृष्टिगत हो सकता है, पर उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं होगा। जड़ों के उन्मूलन के अभाव में इसको उखाड़ने का प्रबल पुरुषार्थ भी किया जाए तो भी वह उखड़ेगा नहीं। हाँ, वह रूपांतरित हो जाएगा। समय आने पर पुनः अपना प्रभाव दिखाने में पीछे नहीं रहेगा। रूपांतरण विनाश नहीं किन्तु परिवेश का परिवर्तन मात्र है, अपनी आकृति को बदल कर अन्या–कृति में रहना है। अतएव साधक को इसका उन्मूलन करने के लिए सतत जागृत रहना चाहिए तथा समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करने का निरंतर प्रयास चालू रखना चाहिए। समीक्षण दृष्टि की ऐसी शक्ति सम्पादित कर लेना है जिससे रूपांतरित मान को भी मान असली रूप में पहचाना जा सके, और उसका निष्कासन किया जा सके। इस विकार के समूल उन्मूलन की शक्ति यदि चैतन्य देव के अन्तरतर में अभिव्यक्त हो जाए तो उस श्रेणी के अन्य विकारों का भी अवलोकन करने में सुविधा हो सकती है। पर ऐसा करने के लिए आत्मिक स्वभाव का विज्ञान नितांत आवश्यक है। निज स्वभाव की पहचान के बिना मान संबंधी विकारी भाव की पहचान नहीं होगी, तब तक नकली जवाहरात की भी जानकारी नहीं हो सकती। उसके अभाव में नकली जवाहरात का एवं कांच के टुकड़ों का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। उनका

अवमूल्यन किए बिना असली जवाहरात से उनका विलगीकरण भी नहीं हो पायेगा। यह कार्य समीक्षण ध्यान की विद्या के बिना होना कतई शक्य नहीं।

दुर्भेद्य ग्रंथि मान :

संसार में ग्रंथियाँ, गठानें कई प्रकार की होती हैं। कपड़ा, रस्सी आदि की ग्रंथियाँ सहज रूप से खोली जा सकती हैं। उनकी अपेक्षा बारीक तन्तुओं से बनी जाल की ग्रंथियाँ खोलना अधिक कठिन है। उनकी अपेक्षा भी बांसादि वृक्षों के मूल की ग्रंथियाँ, अति दुरुह हैं। उनका विमोचन होना सहसा आसान नहीं। उन सबसे भी बढ़कर मिथ्यात्व की ग्रंथि है। यानि जो वस्तु जैसी नहीं है उसको उस रूप में मानने रूप ग्रंथि मिथ्यात्व की ग्रंथि कहलाती है। आत्मा की मूर्च्छित अवस्था में यह ग्रंथि रहती है। इस ग्रंथि के कारण चैतन्य देव अनादि कालीन प्रगाढ़ अज्ञान–निद्रा से सोया हुआ है। ऐसी आत्मा को जागृत करने हेतु कितना ही उपदेश दिया जाए किन्तु उस उपदेश को ऐसी आत्माएँ सुन ही नहीं पाती। मिथ्यात्व की, गम्भीर मूर्च्छा की सघनता में साक्षात् तीर्थंकर देव भी उपदेश प्रदान करें तो भी कइयों को तो वह उपदेश भी जगा नहीं सकता। वैसी ग्रंथियाँ निकाचित बंधन से युक्त होती हैं। उस बंधन को विमोचित करने के लिए कोई ऐसा साधन नहीं कि जिससे उनका विमोचन किया जा सके, यद्यपि ऐसे ग्रंथियाँ चैतन्य देव ने ही बांधी है। उस बंधन के साथ उसकी अवधि का भी निर्धारण हुआ है। निकाचित कर्मग्रंथि की स्थिति की अवधि ज्यों–ज्यों घटकर समाप्त होने के सन्निकट पहुँचती है तो वह ग्रंथि स्वतः शिथिल बन खुलने लगती है। बहुत लम्बी अवधि समाप्त प्रायः होने पर अवशेष अनिकाचित बंधनयुक्त स्थिति जब रह जाती है तब आत्मा कुछ जगने की अंगड़ाई लेने में सक्षम होती हैं। तब उसके अध्यवसायों की "यथा– प्रवृत्तिकरण" की संज्ञा बनती हैं। आत्मा को तब धर्म शब्द प्रिय लगने लगता है। फिर भी धर्म शब्द से संबंधित विषय का विभाग नहीं किया जा सकता। कुछ अधिक परिणामों की उज्ज्वलता

अनादिकालीन अवस्था में जब पहली बार बनती है तब उस अवस्था की उज्ज्वलता को "अपूर्वकरण" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। उस समय इस अनादि कालीन ग्रंथि का भेदन होता है। उसी सिलसिले में परिणाम की धारा ऊपर की ओर बढ़ती है, क्रमशः "अनिवृत्तिकरण" की विशिष्ट अवस्था आती है, तब शांत प्रशांत समत्वभाव की उपलब्धि के साथ समीक्षण का प्रादुर्भाव होता है। यही समीचीन या सम्यक्दृष्टि है। अतएव यह ग्रंथि कितनी दुर्भेद्य है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। जिज्ञासा होगी कि आत्मा (चैतन्य देव) अनन्य शक्ति सम्पन्न माना गया है, साथ ही उसका सत्पुरुषार्थ भी सब कुछ साधने वाला बन सकता है तो फिर उस मूर्च्छितावस्था में से उसको तीर्थंकर देव का उपदेश भी जगाने में सक्षम क्यों नहीं होता ? जिज्ञासा समीचीन है। पर उसका समाधान भी समीक्षण दृष्टिपूर्वक ही किया जा सकता है। जो पुरुष समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होगा वह यह भली–भाँति जान सकेगा कि समर्थ उपादान कारण की विद्यमानता से ही निमित्त कारणों से कार्य सम्पन्न हो सकता है। प्रगाढ़ मिथ्यात्वदशा में आत्मा रूप उपादान ही जब असमर्थ रहता है तब तीर्थंकर प्रभु का उपदेश, जो निमित्त कारण है, उसे कैसे जगा सकता है? इसीलिए तीर्थंकर देवों ने यथास्थान उपादान एवं निमित्त का उल्लेख किया है। चैतन्य देव के निकाचित कर्मों के बंधन जब शिथिलतर हो जाएँ तभी चैतन्यात्मा का सत्पुरुषार्थ एवं परिपूर्ण ज्ञानसमृद्ध आत्मा का उपदेश कारगर हो सकता है। निकाचन बंधन से भिन्न बंधन वाली ग्रंथियाँ सहज ही खुल सकती हैं पर निकाचन बंधन की गाँठ नहीं खुल सकती। चैतन्य देव ने अंधकार परिपूर्ण रूप में प्रवेश कर अंदर की अर्गला लगाने के साथ ही ताला लगा रखा है एवं वह ऐसे स्थान पर सो गया है कि जहाँ बाहर से आवाज पहुँच नहीं सकती। कदाचित् बलवान् पुरुष की आवाज पहुँच भी जाए तो वह पुरुष मूर्च्छावस्था की प्रगाढ़ निद्रा में श्रवण नहीं कर पाता। ऐसी दशा में बलवान् पुरुष की आवाज एवं अन्य पुरुषों की आवाज क्या कर सकती हैं। हाँ, प्रगाढ़ निद्रा की भी अवधि होती है

और चैतन्य द्वारा ही निर्मित होती है। चैतन्य देव स्वयं की विस्मृति के साथ उस अवधि को भी विस्मृत क्यों न कर दे अर्थात् उसको स्मरण रहे या न रहे, पर चैतन्य द्वारा कृत अवधि की समाप्ति स्वभावतः निकट आती जायेगी और उस समय अवधि को चैतन्य देव का रस मिलना बंद हो जाएगा तब वह स्वतः समाप्त हो जाएगी। तदनन्तर स्वयं उस अवस्था में यदि कोई शब्द पहुँच जाए तो वह शीघ्र ही उठ कर ताला खोल, कुंडी हटा स्वंय बाहर आ जाता है। कदाचित् किसी की आवाज नहीं पहुँची तो भी अपनी कुछ आवश्यताओं को महसूस करता हुआ स्वभावतः उस अंधकार परिपूर्ण रूप से बाहर निकलता है, और उसे प्रकाश मिल जाता है। इस एकदेशीय उदाहरण से चैतन्यदेव की मिथ्यात्वोदय की प्रगाढ़ अवस्था समझी जा सकती है। अन्य रूपक सूर्य का लिया जा सकता है। सूर्य की प्रखर किरणें मनुष्य तो क्या पत्थर को भी गर्म कर देती है। इतनी सामर्थ्य–शक्ति सूर्य में होने पर भी जब कभी घने रूप से कुहरा (घूबर) चारों ओर छा जाता है तब उसकी प्रगाढ़ता के कारण समीप की वस्तु भी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती। कुहरा यद्यपि अति ही कोमल होता है, फिर भी सूर्य की तीक्ष्ण किरणें कभी–कभी पूरे दिन में भी उसके घने पटलों को हटा नहीं सकतीं। धीरे–धीरे स्वतः ही उन पटलों की सघनता कम होती है तब सूर्य की किरणों का कुछ प्रभाव काम करने लगता है। वैसे ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सघन, सघनतम पटलों से आच्छादित चैतन्य देव की शक्ति होती है। उस समय तीर्थंकर देव का केवलज्ञान की अवस्था में प्रदत्त उपदेश सर्व दृष्टि से सम्पन्न होता है, परन्तु मिथ्यात्व मोहकर्म के गहनतम पटलों की अवधि समाप्ति के साथ विलग होने पर ही चैतन्य देव की शक्ति उपदेशादि के माध्यम से जागृत हो सकती है। वह जागृति यथाप्रवृत्तिकरण आदि से अभिव्यक्त होती हुई शांत प्रशांत अवस्था रूप उपशामावस्था के रूप में आती है। यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त के लिए प्राप्त होती है। तदनंतर अर्थात् अंतर्मुहूर्त के पश्चात् आत्मा की वह समता रूप प्रशांतता क्षयोपशम के रूप में नम्बरी चश्मे की भांति बन जाती है अथवा मिश्रावस्था में

रूपांतरित हो जाती है, या पुनः तिरोहित हो जाती है। तिरोधान की अवस्था को सादी मिथ्यात्वावस्था कह सकते हैं। यह मिथ्यात्वावस्था पहले जैसी प्रगाढ़ नहीं होती, किन्तु अन्यान्य ग्रंथियों के निर्माण में हेतुभूत अवश्यमेव बनती है। उनमें से मान संबंधी ग्रंथि भी प्रगाढ़ता से यदा–कदा निर्मित हो जाती है, जिससे उसका भेदन करना, विमोचन करना सामान्य आत्मा के लिए दुष्कर तो होता ही है, कई विद्वान् एवं विचारवान् व्यक्तियों के लिए भी उसका विमोचन करना कठिन होता है। अतएव मान की दुर्भेद्य ग्रंथि का विमोचन होना दुःशक्य अवश्य है, किन्तु इस ग्रंथि के भेदन की आंतरिक तीव्र जिज्ञासा जिस किसी भी साधक में उत्पन्न हो जाती है और उस साधक को समता के साथ समीक्षण दृष्टि के अभ्यास का सहयोग मिल जाता है, वह साधक निरंतर समीक्षणाभ्यास कर भेदन अवश्य कर सकता है और इस ग्रंथि जनित समस्याओं का समाधान पा सकता है।

अपलापक मान :

पवित्र आध्यात्मिक साधनाओं में संलग्न साधकों को आंतरिक जीवन पवित्र, निर्मल स्वच्छता से परिपूर्ण होता है। उनकी आंतरिक चेतना विविध अनुभूतियों से सम्पन्न हो जाती है। उन अनुभूतियों के रस से ओत–प्रोत विचार, उद्‌गार, उपदेश जब बाहर अभिव्यक्त होने लगते हैं तब उपदेशक वंदनीय पूजनीय बन जाता है। उसके उपदेशों से अनेक भव्यात्माएँ जागृत बनती है। जागृति का यह निमित्त उन्हीं साधकों के लिए कार्यकारी बन सकता है, जिन्होंने समीक्षण–विद्या से मानतंत्र का समीचन रीत्या अवलोकन करने का निश्चय किया है। किन्तु जो साधक बौद्धिक दृष्टि से कुछ रटन मात्र करते हैं और उससे अपने अभिमान का पोषणं करते हैं तथा स्वयं के अभिमान से अभिभूत होकर पवित्र आचार–विचार वाले पुरुषों के पवित्र स्वरूप का अपलाप करते हैं अर्थात् उनके उपदेश को झुठलाने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं– ज्ञान ही सब कुछ है, ज्ञान से हिताहित का मार्ग दिखता है। ज्ञान की उपलब्धि ही पवित्र जीवन की उपलब्धि है। आचरण की आवश्यकता नहीं है। आचरण के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं। निरर्थक

नियमोपनियमों की परिपालना करनी पड़ती है। कहीं फिल्मी गायन सुनने जा नहीं सकते, मनोज्ञ रूप को देख नहीं सकते, सुगंध का उपभोग नहीं कर सकते। दुनिया के सुस्वादु पदार्थों का आस्वादन कर जायका नहीं ले सकते। रमणीय वस्तुओं का संस्पर्श नहीं कर सकते, इत्यादि बातें कह कर अपने स्वयं के अभिमान को बढ़ाने की कोशिश करते हुए कहते हैं कि मैं कितना सुंदर प्रवचन करता हूँ, कैसे गंभीर तत्त्वों का प्रतिपादन करता हूँ, प्रचार–प्रसार की कितनी योग्यता रखता हूँ, इस प्रकार स्वयं की प्रशंसा स्वयं ही करता हुआ बहिर्दृष्टि बनकर मान का पोषण करता रहता है तथा पवित्राचार–विचार का अपलाप करने के लिए सिर्फ ज्ञान का कथन करता है। ऐसे पुरुष न तो वास्तविक ज्ञान का तत्त्व समझते हैं और न ही पवित्र आचरणजन्य अलौकिक आह्लाद की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि उन लोगों ने टेप रिकॉर्डिंग की तरह अपने मस्तिष्क में कलाकुशलता के रूप में उपदेश का सिलसिला बना लिया होता है। वे तोता रटन्त की तरह रटे–रटाये भाषण देने में ही मान–अभिमान की अभिवृद्धि करते रहने से अपने अंदर समीक्षण कर नहीं पाए हैं। वे नहीं जानते कि मैं जो इस प्रकार का वक्तव्य देकर तीर्थंकरादि पवित्र पुरुषों का अपमान कर रहा हूँ। यह मेरे लिए व अन्य जनता के लिए कितना घातक है।

बड़े–बड़े महापुरुषों ने पवित्र आचरण के साथ ही वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि की है। बिना आचरण के सही ज्ञान का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार की समझ तभी जग सकती है जब वे अभिमान की उन्माद दशा से उपरत हों, शुद्धाचार एवं आचारवान् का अपलाप करना छोड़ें तथा विनम्र भाव से पवित्र आचारवान् पुरुषों के समीप जाकर उनसे वास्तविक जीवन की साधना का मार्ग समीक्षण दृष्टि से अवगत करें। इसके अभाव में जो शुद्धाचार एवं विचारवान् महापुरुषों की वाणी की अवहेलना करता है वह स्वयं की ही अवहेलना करता है। वह अनेक प्रकार की समस्याओं में उलझ कर स्वयं की शांति को अशांति में परिणत कर लेता है। साथ ही अन्य अनेक प्राणियों को अशांति के गर्त में ढकेलने का कुप्रयास करता है।

महापुरुषों एवं उनके उपदेश का अपलाप तो नहीं होगा, किन्तु ऐसा पुरुष स्वयं की आत्मा को निविड कर्मबंधन की अवस्था में परिणत कर आयुबंधन के समय दुर्गति का बंध अवश्य कर लेगा। अतएव सच्चे साधक को ज्ञान से मान का पोषण कदापि नहीं करना चाहिए, प्रत्युत् समत्वभाव–पूर्वक अभिमान का समीक्षण करते हुए जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।

विचार (ज्ञान) का अपलापकर्ता मान :

मानव स्वयं की कमजोरी को सरलतापूर्वक स्वीकारने में कतराता है, हिचकिचाता है कि कोई कुछ कह न दे, टोक न दे। इस बात को वह हर समय मद्दे नजर रखता है। दुर्बलता को छिपाने और अहं के पोषण के लिए उसकी उधेड़बुन निरंतर जारी रहती है। अन्वेषण के अनुरूप उपाय भी मिल जाता है। यथा किसी ने कहा कि आप आचार में श्रेष्ठ हैं ? अमुक–अमुक बातों का खूब ख्याल रखते हैं। इस विषय में बहुत सजग हैं। यह बहुत ही श्रेष्ठ बात है, सराहनीय एवं प्रशंसनीय है। किन्तु इसके साथ यदि आध्यात्मिक ज्ञान को शास्त्र के माध्यम से हृदयंगम करने का प्रयत्न करें तो सोने में सुहागे की तरह जीवन में निखार विशेष आ पायेगा। इसे श्रवण कर वह मन में सोचने लगता है कि मुझ से शास्त्रीय विषय की अवगाहनता यानी गहराई को समझने की क्षमता भी बुद्धि में नहीं है तो अति सूक्ष्म आध्यात्मिक ज्ञान की अवस्था में कैसे पहुँचा जा सकता है ? इस कार्य को करने की क्षमता मेरी बुद्धि में नहीं है, ऐसा कहूँगा तो लोग मुझे क्या समझेंगे। मेरी हीनता प्रकट होने लगेगी, आदर–सत्कार सम्मान को ठेस पहुँचेगी इत्यादि अनेक बातों का चिंतन करता हुआ उन्हें भ्रमित करने और अपने आपको श्रेष्ठ ख्यापित करने तथा बहुमान सत्कारादि को टिकाये रखने के लिए अहंकार पूर्वक कहता है कि क्या धरा है उस ज्ञान में ! ज्ञान तो पुस्तकों में बहुत भरा पड़ा है। मैं चाहूँ तो खूब पढ़ सकता हूँ, पर ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है। ज्ञान को सीखने में समय का अपव्यय करना व्यर्थ है। ज्ञान तो पण्डितों में बहुत है पर उनको कौन

पूछता है। ज्ञान ही श्रेष्ठ होता तो पण्डित साधु की तरह पूजनीय बन जाते। पर ऐसा नहीं होता है। अतः ज्ञान की आवश्यकता नहीं, चारित्र ही सब कुछ है। इस प्रकार ऐकान्तिक रूप से कथन कर ज्ञान का अपलाप करता हुआ ज्ञानवरणीय कर्मों का प्रगाढ़ बंध कर लेता है।

वीतराग देव के सिद्धांतों के विपरीत कथन करने से उनकी आसातना होती है, मिथ्यात्व का भी बंध होता है। प्रायः अभिमान के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसा अपलाप करता है। समताभाव को गरिमा प्रदान करने वाला पुरुष समीक्षण दृष्टि के साथ वस्तुस्वरूप को अवलोकित करता है। वह यह भी देखता है कि वास्तविक परमसुख और परम शांति ज्ञान तथा आचरण के सम्यक् समन्वय पर ही निर्भर है। उसी से अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। इसीलिए कहा गया है कि "ज्ञान–क्रियाभ्यां मोक्षः" सम्यक् ज्ञान और क्रिया के समन्वित रूप से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सिद्धांत की दृष्टि से भी प्रतिपादित हुआ है कि मनः पर्यव ज्ञान की प्राप्ति बिना आचरण के नहीं होती आचारण भी सामान्य नहीं, उच्च कोटि की अप्रमत्त अवस्था का होना चाहिए। उससे आगे का केवलज्ञान भी आचरण की परिपूर्ण अवस्था यानी यथाख्यात चारित्र के आने पर ही प्राप्त होता है। इससे भली–भाँति जाना जा सकता है कि परिपूर्ण आचरण से ही परिपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह आचरण भी क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। अतः ज्ञान और आचरण दोनों में से किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। मानभिनिवेश में दोनों में से किसी एक का भी अपलाप करना आचरण का दोष ही माना जायेगा। वह दोष अभिमान रूप दोष की प्रमुखता में पनपने वाली आचरण विहीनता का है। यह तो एक साधारण व्यक्ति भी जान सकता है कि भोजन का ज्ञान कर लेने मात्र से क्षुधा शांत नहीं होती। क्षुधा निवृत्ति के लिए खाने की क्रिया रूप आचरण करना ही पड़ता है। खाने की क्रिया रूप आचरण कैसे करना, इसका ज्ञान प्राप्त किए बगैर खाने रूप आचरण की स्थिति नहीं बन सकती। अतएव साधारण से व्यावहारिक अनुभव में भी ज्ञान एवं आचरण दोनों में से किसी एक का भी अपलाप नहीं किया

जा सकता। कोई यदि मिथ्या अभिमान करके साधारण व्यवहार में भी दोनों में से किसी एक का अपलाप करता है तो उसका क्षुधादि के दुःख से पीड़ित होना अवश्म्भावी है। अतएव जीवन–निर्वाह संबंधी प्रत्येक कार्य में मानादि दोषों का समीक्षण हुए बिना सामान्य जीवन का निर्वाह भी शांतिपूर्वक नहीं हो सकता, तो साधनामय जीवन का तो कहना ही क्या ?

मान–विनय का प्रतिपक्षी :

विनय आत्मा की अत्यंत कोमल वृत्ति है। उसे बाहरी दृश्य पदार्थों से उपमित करना शक्य नहीं। जन साधारण की दृष्टि से नवनीत कोमल गिना जाता है। धुवर भी अति कोमल होती है। इसी प्रकार अपकाय के मूल जीवों को भी शास्त्रकारों ने अति ही कोमल बतलाया है। इतनी कोमलता इनमें विद्यमान होने पर भी विनय वृत्ति की कोमलता की बराबरी की स्थिति इनमें नहीं पायी जाती। इस कोमल वृत्ति का प्रवाह अनवरत चलता रहे तथा सत्पुरुषों के सदुपदेशों का संयोग मिलता रहे, योग्य खुराक मिलने का प्रसंग बनता रहे तो यह वृत्ति सद्गुणमय बन अन्यान्य सद्गुणों की वृद्धि कर सकती है। वृद्धि भी इतनी हो जाती है कि परिपूर्ण मानसतंत्र में इसका आधिपत्य स्थापित हो जाता है, फिर वह अन्य तंत्रों को भी प्रभावित कर लेती है। जीवन के जब समग्र तंत्र प्रभावित हो जाते हैं तब शरीर के प्रत्येक अवयव में से सद्गुणों की आभा (किरणें) छिटकने लगती हैं। उसके इर्द–गिर्द के वायुमंडल में रहने वाले प्राणी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। उसके सद्गुण की आभा वायुमंडल में प्रसारित होती रहती है और आगंतुकों के जीवन पर अज्ञात रूप से असर ड़ालती रहती है। स्वयं के जीवन में परम सुख और शांति का संचरण तो उससे होता ही है और दूसरों में भी उस प्रकार की भावनाएँ संचरित होने लगती हैं। अतः इस प्रकार की वृत्ति प्रत्येक मानव में अंकुरित हो, पल्लवित पुष्पित फलित हो जाए तो समग्र संसार का वायुमंडल ही बदल जाए, दुःख दैन्यादि के निष्कासन के साथ ही राग–द्वेष, ममत्वादि जनित समस्याएँ

भी समाहित हो जाएँ।

ऐसी स्पृहणीय स्थिति उत्पन्न होने पर संघर्ष, विग्रह क्लेश आदि शब्द कोषों में ही उपलब्ध हों, मानव–जीवन में नहीं। पर क्या किया जाए। जीवन में जैसे सद्वृत्तियों का सद्भाव है वैसे ही असद् वृत्तियों का भी अस्तित्व है। समय–समय पर इनका परस्पर संघर्ष भी चलता रहता है। किन्तु सामूहिक रूप में दुर्वृत्तियों का प्रभाव इतना अधिक व्याप्त रहता है कि जिससे सद्वृत्तियों का विकसित होना तो दूर उन्हें खुराक मिलने का ही प्रसंग नहीं बनता। परिणामस्वरूप आस–पास का जन–समुदाय भी दुर्वृत्तियों से ओत–प्रोत रहता है। वायुमंडल भी उसी रूप में नवागन्तुक पुरुष को प्रभावित करता रहता है। यही कारण है कि दुःख दैन्यादि अवस्थाएँ बरकरार रहती हैं। उन्हीं दुर्वृत्तियों में से मान की वृत्ति भी एक है। इसमें कठोरता, निर्दयता की अवस्था भी अनल्प रूप से रही हुई है। यह वृत्ति विनय रूप कोमल वृत्ति पर क्रूरता से प्रहार करती है तो विनय की वृत्ति छिन्न–भिन्न हो जाती है। कदाचित् सद्गुणी जनों के घनिष्ठ सम्पर्क–संसर्ग से उसके घाव भरने लगते हैं, तो वहाँ पर भी यह अभिमान की वृत्ति रूप बदल करके उपस्थित हो जाती है। यत्किंचित् सद्विचारों के श्रवण को लेकर वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है। मैं कैसा कुशल श्रोता हूँ, मेरे समान अन्य श्रोता कोई नहीं, इस प्रकार श्रोता की पोषाक धारण कर अभिमानी विनय–वृत्ति को पुनः छिन्न–भिन्न कर डालता है। कदाचित् संतों के सदुपदेश से लँगड़ाती हुई विनय वृत्ति गुणों को वरने लगती है, व्रत अंगीकार कर चलती है। परन्तु अन्य को व्रत ग्रहण करते नहीं देखती है अथवा अन्य की स्वल्प वृत्ति को देखती है तो वह मान की वृत्ति धर्म की पोषाक पहनकर विनय वृत्ति को पुनः गिरा देती है। कभी किसी को दान देती हुई देखकर विनय वृत्ति किसी के सहारे खड़ी होने का साहस बटोरती है और दान देने की उदारता के रूप में उपस्थित होती है, उस समय मेरी यशकीर्ति–ख्याति फैलनी चाहिए, इस भेष में अभिमान की वृत्ति जागृत बन करके फिर उस वृत्ति को झकझोर देती है। कभी ब्रह्मचर्य का महत्व समझ कर शील व्रत रूप

गुण का वरण करने में प्रयत्नशील बनती है तो प्रशंसा रूपी टोप को धारण कर उस शील गुण को भी अभिमान की मलिनता से आच्छादित कर देती है। विशिष्ट तप का स्वरूप ग्रहण करने के लिए विनय वृत्ति साहस बटोर तप का आभास प्रारंभ करती है, लोगों के मुँह से श्रवण करने को मिलता है कि– "अहो ! आप तो दान शीलादि गुणों के साथ–साथ तपस्वी भी हो गये" तो उस वक्त यह मान रूपी खुपिया सदा कर्णेन्द्रिय के निकट बैठने लग जाता है एवं मानस तंत्र को यह सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि यह प्रशंसा के शब्द कहाँ से मिलते हैं। जहाँ से अधिक मिलें वहीं शरीर को ले चलने के लिए मानसतंत्र को बाध्य कर देता है और जहाँ कुछ आलोचनात्मक बातें सामने आती हैं वहाँ से शरीर को हटाने के लिए कोशिश करता है। कभी विद्वत्ता प्राप्त हो गयी तो यह अभिमान उस विनय वृत्ति पर चट्टान बन कर गिरता है।

ऐसे अवसर पर मान मन को सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि मेरी सानी का अन्य कोई विद्वान् नहीं है। मैं सब कुछ जानता हूँ। कदाचित् कोई सहृदय व्यक्ति उसकी त्रुटि निकालता है तो उसकी उपेक्षा करता हुआ वह कहता है– रहने दो, सब कुछ जानता हूँ संयोगवश विनय वृत्ति साधु जीवन स्वीकारने में तत्पर बन उसे अंगीकार कर लेती है तो भक्तजनों को नमस्कार करते देखकर अभिमान मानो पहलवान का रूप धारण कर मानस तंत्र को यह सोचने के लिए बाध्य कर देता है कि मैं अखिल विश्व में श्रेष्ठ साधु हूँ, मेरी समकक्षता वाला कोई साधु नहीं है। अतएव मुझे ही सत्कार–सम्मान मिल रहा है। मैं ईश्वर बन गया हूँ। अब मुझे ज्ञान ध्यान तप साधनादि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रही। यदि मैं ज्ञान.ध्यानादि साधना में बैठूँगा और मेरे भक्त आएँगे तो वे सोचेंगे कि इनमें अभी साधना की कमी है। ये पूर्ण ईश्वरत्व को नहीं पा सके हैं। यदि पूर्ण ईश्वर बन गये होते तो साधना में क्यों बैठते ! अतएव मुझे साधना में नहीं बैठना चाहिए। दबी हुई विनय वृत्ति अंदर से पुकारती है कि अभी जीवनोत्कर्ष की साधना करनी है, अनेक गुणों को वरना है। वह डरती–डरती ऐसा कहने का

साहस करती है कि अभिमान चट से उसके मुँह पर ऐसा चांटा मार देता है कि वह विनय वृत्ति बोलना छोड़ अपने मुँह को सहलाने लगती है। इस प्रकार यह अभिमान विनय स्वरूप को दयनीय दशा में डालकर नष्ट कर देता है इसीलिए तो वीतराग देव ने अपनी अनुभूतिपूर्वक फरमाया कि "माणो विणय नासणी" अर्थात् मान विनय का विनाशक है।

मान के विविध रूप : जाति का गर्व :

मनुष्यजन्म के साथ ही मान का जन्म होता है। मनुष्य शरीर जितनी पोषाकें धारण करता है, उनसे ज्यादा रूप यह बना देता है। जैसे ही शिशु समझ पकड़ता है वैसे ही अपने संरक्षकों से सुनता है कि हमारी जाति उत्तम है। इसके तुल्य अन्य कोई जाति नहीं है। यह श्रवण शिशु के मस्तिष्क में भली भांति प्रवेश पा जाता है। जब कभी जाति की चर्चा चलती है तो वह बालक बोल उठता है कि हमारी ही जाति श्रेष्ठ है, अतएव हम ऊँचे हैं। अन्य सभी जातियाँ हीन हैं और हीन जातियों में ज़न्म लेने वाले मनुष्य भी हमसे हीन हैं। वे हमारी समकक्षता में खड़े नहीं हो सकते हैं। हमारे बराबर नहीं बैठ सकते हैं। ऐसा जाति–मदग्रस्त व्यक्ति जाति के अभिमान से अभिभूत होता हुआ, अन्य को कुछ नहीं गिनता हुआ, उसी भावना में गुनगुनाता हुआ इधर–उधर फिरता रहता है। इस प्रकार जातिवाद के रूप में मान का स्वरूप भी उभरता हैं

साधक को चाहिए कि इस प्रकार के मान का समीक्षण करे एवं सोचे कि मैं इस प्रकार का अभिमान कर अपने तनावग्रस्त बना रहा हूँ, घृणा–जनित पापों का उपार्जन कर रहा हूँ। इस प्रकार की लोकप्रचलित जातियाँ वस्तुतः जातियाँ नहीं हैं, व्यवसायादि की दृष्टि से जाति रूप से स्थापित हो गयी है। शास्त्रकारों ने जाति का स्वरूप विकास के आधार पर बतलाया है।

जिस जीव को एक ही इन्द्रिय प्राप्त हो, ऐसे समस्त जीवों को एकेन्द्रिय जाति के रूप में अभिहित किया गया है। उस एकेन्द्रिय

जाति के प्राणियों में कर्मोदय के अनुसार विविध प्रकार की तरतमता रही हुई है। यथा– पृथ्वी ही जिसका शरीर है ऐसे प्राणी पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जाति के रूप में पहचाने जाते हैं। किन्तु पृथ्वी–पृथ्वी में भी बहुत अंतर पाया जाता है। कोई सुगंध युक्त पृथ्वी है तो कोई दुर्गंधपरिपूर्ण स्वरूप में रहने वाली पृथ्वी है। कोई मिट्टी के रूप में है तो कोई पाषाण के रूप में है। कोई रत्न जवाहरात के रूप में है तो कोई स्वर्ण रजत के रूप में है, कोई चन्द्र–सूर्य आदि के विमान के रूप में है। इस प्रकार पृथ्वी जाति में विविध उप–जातियाँ रही हुई हैं। मूल्यवान् एवं मूल्यरहित आदि अवस्था में होने पर भी पृथ्वीकायिक जीवों में परस्पर में अभिमान की अवस्था दबी हुई रहती है किन्तु अभिव्यक्त नहीं हो पाती। वैसे ही अप्कायिक–पानी ही जिसका शरीर है वे भी एकेन्द्रिय जात्यंतर्गत है उनमें भी खारापन, मीठापन आदि के रूप में विभिन्नता रही हुई है।

तेजसकाय–अग्नि ही जिन आत्माओं का शरीर है उनका समग्र समूह तेजसकाय एकेन्द्रिय जाति है। इसमें भी अनेक भेद हैं। विद्युत की अग्नि, चूल्हे की अग्नि, भट्टी आदि की अग्नि। इसी प्रकार वायुकायिक ही जिनका शरीर है, वे प्राणी वायुकायिक एकन्द्रिय जाति में है। उनके भी विविध भेद–प्रभेद हैं। तथा वनस्पतिकायिक–वनस्पति ही जिनका शरीर है ऐसे जीवों का समुदाय एकेन्द्रिय वनस्पति जाति के नाम से अभिहित किया जाता है। इसकी महिमा बहुत ही बढ़ी–चढ़ी शास्त्रों में पायी जाती है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रियादि भी एक–एक जातियाँ हैं। इनमें भी अनेक भेद–प्रभेद हैं। किन्तु इन जातियों को लेकर अभिमान करने का कोई प्रसंग नहीं रहता है, क्योंकि स्वाभाविक तौर पर विकास के तारतम्य की प्रधानता से ये जातियाँ निर्मित होती है।

इन्हीं जातियों का उल्लेख तीर्थंकर भगवंतों ने किया है, अतएव इनके आधार पर मान के उद्‌भव का प्रसंग ही नहीं रहता। जो कृत्रिम जातियाँ हैं, वे एक दृष्टि से कल्पित हैं। उनको लेकर अभिमान करना

अपने आपको हीनता के उन्मुख करना है। अतएव तत्त्वदर्शी पुरुष विचार करता है कि कल्पित जाति का अहंकार मेरे लिए कतई हितावह नहीं है, क्यों मैं कृत्रिम जाति के पीछे अभिमान की वृत्ति को पुष्ट एवं प्रबल बना कर आत्मा को कर्मों से क्यों बोझिल बनाऊँ।

जाति का दूसरा अर्थ मातृपक्ष है। जिस–जिस संतान की माता या मातृ–पक्ष–ननिहाल का जीवन धार्मिकता एवं नैतिकता से सम्पन्न है, वह मातृपक्ष की दृष्टि से जातिमान् कहलाती है। जातिमान् संतान का इस प्रकार समीक्षण होने पर उसका अभिमान उभरने की बजाय विलय को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जो जातिमान है वह गृहीत सदनुष्ठानों का यथाशक्ति पालन करता है। परिपालना करते कितनी भी विकट परिस्थितियाँ क्यों न आ जाएँ, कितना भी अपमान–तिरस्कार का प्रसंग उपस्थित क्यों न हो, तथा अनल्प संकट भी उपस्थित हों और वे चिरकाल तक चालू रहें, फिर भी वह जातिमान संतान कभी विह्वल नहीं होती, न ही घबराती है। गृहीत सत्प्रतिज्ञाओं के विषय में भी वचन से हीनता प्रकट करना तो दूर, मन में भी हीन भावना एवं अरुचि का प्रसंग उपस्थित नहीं होने देते। समीक्षण से समग्र परिस्थितियों एवं वस्तुओं को यथायोग्य तथ्यरूप में अवलोकित करता हुआ मातृपक्ष को लांछन नहीं आने देता। इसीलिए वीतराग देवों ने धर्म की साधना के लिए जातिसम्पन्नता को भी स्थान दिया है। जाति सम्पन्न पुरुष धर्म में अडिग–अचल रहता है, उपस्थित परिस्थितियों को परीक्षण का क्षण मानकर चलता है। अतएव साधक को मान–समीक्षण का अवलम्बन लेकर मान रूप दुर्गुण को अपने अंदर पनपने नहीं देने रूप सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। पर जिसको मान समीक्षण करने की विधि–कला ज्ञात नहीं होती है, वही कृत्रिम जाति की पोषाक पहनकर मान के ऊँचे शिखर पर चढ़ जाता है।

कुल का गर्व :

पुरुष जिस घेरे में जन्मा है उस घेरे को कुल मान लेता है और अपने कुल को अन्य कुलों से ऊँचा समझकर गर्व करने लगता है।

ज्ञान की न्यूनता के कारण वह यह नहीं सोच पाता कि बिना सद्गुण–कर्म के उच्च कुल की अवस्था कैसे बन सकती है। ऐसी अवधारणा से अनेक अनर्थ घटित हो सकते हैं। यदि सत्–पुरुषार्थ आदि गुण कर्म के बिना ही अमुक घेरे को ऊँचा कुल मान लिया जाए तो गुण गौण हो जायेंगे, जिससे कुल के अधर्म रूप कृत्यों को भी मानव धर्म मानकर चलेगा। ऐसे कुल का अभिमान संतान को कुमार्ग पर अग्रसर कर देता है। यथा शास्त्रकारों ने पैतृक परम्परागत पवित्राचरण वाले पितृपक्ष को उच्च कुल कहा है, अर्थात् जिसके पितादि का आचार–विचार शुद्ध हो उसका पुत्र कुल–सम्पन्न कहलाता है। ऐसा कुलसम्पन्न पुरुष प्राण को खतरे में देख करके भी गृहीत पावन प्रतिज्ञाओं को नहीं तोड़ता। तोड़ना तो अति दूर, उनमें लचक आने जैसी स्थिति भी नहीं आने देता और न सत्प्रतिज्ञाओं के प्रति अरुचि ही लाता है। कुलसम्पन्नता का बहुत बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पुत्र पर रहता है। इसीलिए पाँच पदों के गुणों के प्रसंग से जाति–सम्पन्नता, कुलसम्पन्नतादि विशेषणों का उल्लेख किया गया है। अतः पुरुष को कुलों की वास्तविकता का समीक्षण कर कुल से संबंधित मान से निर्मुक्त होना चाहिए।

बल–मानोद्भव का स्रोत :

शरीर की बलिष्ठता के सामर्थ्य को पाकर अज्ञ जन अभिमान में फूला नहीं समाता। उस बलमद के साथ जब धनबल और जनबलादि का संयोग मिल जाता है तब बलमद का उद्दीपन विशेष रूप से उभर जाता है। तब हीन वृत्तियाँ परिपुष्ट होने लगती हैं। बल के अहंकार की क्षुद्र वृत्ति के अधीन बन वह अन्यों को हीन दृष्टि से देखने लगता है। दूसरों का तिरस्कार करने के लिए कटिबद्ध बन जाता है। अपने अकृत्य को भी कृत्य मान बल का प्रदर्शन करता हुआ संतुष्टि का अनुभव करने लगता है। अन्य की छोटी–सी त्रुटि को विशाल आकार प्रदान कर निरपराध प्राणियों को पीड़ित करता है, त्रास पहुँचाता है, और कभी–कभी उनका घात भी कर बैठता है। उस समय बलोन्माद

की अवस्था रहने से सोच नहीं पाता कि इसका क्या परिणाम सामने आयेगा, किस रूप में आयेगा ? क्या यह बल मुझे उस दुष्परिणाम के भोग से बचा सकेगा ? इन तथ्यों को विस्मृत कर पापमय कार्यों में रुचि रखता हुआ निश्शंक कर गुजरता है। जब उनके फलोपभोग का प्रसंग आता है, उस समय उसे वह अभिमान बचा नहीं पाता। कृत्यों का परिणाम कभी–कभी शीघ्र मिल जाता है तो कभी देर से भी सामने आता है। उस समय हाय–हाय करता हुआ वह प्राणों का परित्याग करता है। ऐसी घटनाएँ अनेक बार घटित होती दृष्टिपथ पर सामने आती हैं। सुना है, मेरठ जिले में दादरी नामक ग्राम था। शारीरिक दृष्टि का एक पहलवान अपने शरीर को देखकर फूला नहीं समाता। अन्य को हीन समझ कार्य करता रहता। जब दूध की हण्डिया रखकर शारीरिक बल को बढ़ाने के लिए कुश्ती लड़ता, तब एक कुतिया दूध की हण्डियों में से कुछ दूध पी जाती। कई दिनों बाद सोचने लगा कि प्रतिदिन मेरा दूध कम हो जाता है। कौन पीता है ? एक दिन इसकी जानकारी करने छिपकर बैठ गया। कुतिया को दूध पीते देखा तो उसे कमरे में बंद कर तपी हुई लोह सलाका उसकी आँखों में डाल दी। सोचा– यह दूध देखेगी ही नहीं तो पीयेगी कैसे ! इसे पता नहीं कि मैं पहलवान हूँ ! मेरे सामने साधारण मनुष्य तो क्या, बड़े–बड़े पहलवान भी थर्राते हैं। इस कुतिया ने मुझे चुनौती दी तो उसका फल चखा दिया। सीना फुला कर अपने आपकी प्रशंसा करने लगा। कुछ समय पश्चात् बेचारी कुतिया चल बसी। परन्तु इस पहलवान के इस कृत्य से कर्मबंध ऐसे हुए कि सात दिन के बाद उसकी स्वयं की आँखों में इतनी उग्रतर शूल की वेदना प्रारंभ हो गई कि वह छटपटाने लगा, दीन व कमजोर बन गया। उसका अभिमानमर्दन तो हुआ ही, साथ ही अपने आपको दीन, असहांय महसूस करता हुआ चिल्ला–चिल्ला कर कहने लगा– हाय मेरी वेदना कोई ठीक करो। पर अब क्या हो ? अभिमान के वश हो कर अज्ञ प्राणी की यत्किंचित गलती से उसे जो क्रूरतापूर्ण दण्ड दिया उसका फलोपभोग करते हुए वह भी समाप्त हो गया। अतएव सुज्ञ पुरुषों को मान समीक्षण से इस दुर्गुण को जीवन से निष्कासित करने का सत्पुरुषार्थ करते

चाहिए।

रूप- मानवृत्ति का उद्दीपक :

शारीरिक रूप क्षणभंगुर है– शीघ्र विनष्ट होने वाला होता है। इस तथ्य को नहीं समझने वाला पुरुष शारीरिक रूप को सब कुछ मानकर अभिमान का चोगा पहन लेता है। अपने रूप के मद में मस्त होकर अन्यों के प्रति घृणित भावना रखता है। सोचता है कि मेरे रूप सौन्दर्य की तुलना में इनका क्या रूप है, कुछ भी नहीं। कभी–कभी व्यक्ति अपने रूप का अभिमान–पूर्वक प्रदर्शन करता है। अपने रूप की कृत्रिम लौ दिखाकर अन्य को उस लौ में भस्मीभूत होने को बाध्य कर देता है। कभी प्रायः पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका प्राबल्य देखा जाता है। नैसर्गिक रूप की अवस्था नहीं होने पर भी, रूप को निखारने के लिए विविध प्रकार की प्रसाधन सामग्री से श्रृंगार सजाया जाता है और दूसरों की जिंदगी को इसकी बलिबेदी पर चढ़ाने के लिए बाध्य किया जाता है। इस विषय के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

मान का समीक्षण करने वाला पुरुष इसको अपने पर हावी नहीं होने देता, किन्तु समय आने पर मान को अभिव्यक्त करने में, जो विपुल वैभव आदि मान के विविध साधन हैं, उन्हें निस्सार समझ कर, रूप–मद की पोषाक को दूर हटा देता है एवं आत्मिक रूप को निखारने के लिए चल पड़ता है। पौद्गलिक रूपों का यथार्थ दर्शन हो जाने पर अपौद्गलिक, सदा शाश्वत रहने वाले आत्मिक शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करता। यथा– सनत्कुमार चक्री।

जब· तक शारीरिक रूप का गर्व परिपोषित होता रहा तब तक चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य को उपभोग करता रहा। जैसे ही शारीरिक रूप लावण्य की विनश्वरता का अववोध हुआ त्यों ही तुरंत नासिका के श्लेष्म की भांति परिवार सहित चक्रवर्ती का वैभव त्याग शारीरिक रूप की भी सर्वथा उपेक्षा कर डाली तथा निज स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए समता की पूर्ण साधना साधते हुए मान के मूल

का निर्मूलन कर डाला।

तप : आधि-व्याधि की अमोघौषध

तप आत्मशुद्धि के लिए पवित्रतम रसायन है। इस रसायन का आसेवन करने वाला मुमुक्षु साधक अपने अंतरंग में रहे कर्म-कालुष्य के अशौच को विशुद्ध करता है। यह रसायन केवल शरीर को ही संस्पर्शित करने वाली नहीं अपितु अंतरंग को संस्पर्शित कर उसे भी विशुद्ध बनाने वाली है। अंतरंग स्थिति को संस्पर्शित करने वाली तप रूप जो रसायन है वह साधारण की दृष्टि में नहीं आती, किन्तु उससे कर्मरूप अशौच की विशुद्धि होती रहती है और आत्मा की निर्मलता, पवित्रता, स्वच्छता अभिव्यक्त होती जाती है। विवेक का अवलम्बन लेकर तपश्चरण रूप रसायन का सेवन पथ्य के साथ करने से पाप के कालुष्य से ओतप्रोत वृत्तियों से वह निवृत्त बनता हुआ जीवन के निगूढ़ तत्त्व को पहचान उत्तरोत्तर विकास की तरफ गतिशील बनता रहता है। जीव की समग्र स्वाभाविक शक्तियाँ उभर-उभर कर सामने आ उपस्थित होने लगती हैं। आत्मा विविध ऋद्धियों एवं सिद्धियों से सम्पन्न बनने लगता है। जिससे मानवीय जीवन से संबंधित समग्र आधि, व्याधि रूप समस्याओं का सम्यक् समाधान स्वतः सहजतया हो जाता है। वह तपःशील साधक देवों, दानवों नरेन्द्रों और देवेन्द्रों तक का अर्चनीय, पूजनीय तथा आदरणीय हो जाता है। ऐसे तप रूप रसायन का किसी भी भौतिक पदार्थों एवं रासायनिक द्रव्य से मूल्य नहीं आकां जा सकता।

इस लोकोत्तर सिद्धि प्रदायक तप रूप रसायन की सम्यक् समझ एवं सेवन विधि का विज्ञान न होने के कारण कई लोग मानो कौए को उड़ाने के लिए हीरा फैंकते हैं। उसका सेवन करके भी उसके द्वारा अपने मान की संपुष्टि करते हैं। वह योग्य नहीं हैं, क्योंकि यह तप शुद्ध रसायन रूप साधन है। इसको अशुद्ध मानवृत्ति से संबंधित करना घोर मूढ़ता है।

यह गाय के दुग्ध को आक के दूध के साथ संयुक्त करने

सरीखी बात है। गाय के दूध से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है और आक के दूध से प्राण–शक्ति को क्षति उठानी पड़ती है। वैसे ही तप रसायन को मान के साथ संयुक्त कर देना तप रसायन की शक्ति को विफल करने के तुल्य है। तप ज्ञानादि भाव–प्राणों की समुज्ज्वल करने वाली रसायन हैं तो उसके द्वारा मान के विकारी शरीर का पोषण करने से ज्ञानादि शक्तियाँ आवृत बनती है। मानव अज्ञानता वश इस तथ्य को समझता नहीं और तप का अभिमान करने लगता है कि मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मुझसे कोई टकराए नहीं, मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ। इस प्रकार तप का मद करने वाला पुरुष उस तप रूप रसायन के सेवन की विधि के अभाव में स्व–पर दोनों के लिए अहितकर होता है।

अभिमान रूप व्याधि से ग्रस्त तपस्वी विवेकशील जनों का आदरणीय नहीं बन सकता और न तप–रसायन का समीचीनतया लाभ ही उठा पाता है। सुज्ञ सज्जन पुरुष को चाहिए कि पवित्र तप रूप रसायन को विकृति प्रदान करने वाले मान का समीक्षण करे। अभिमान रूप व्याधि से तपस्वी जीवन को रुग्ण बनने से बचावे और तपाराधना के साथ प्रादुर्भूत होने वाली विषैली घास के तुल्य जो अभिमान है उसे उखाड़ कर फैंक दे, जिससे तप की रसायन का पूर्ण लाभ उठाने में आत्मा सफलीभूत बन सके। मान रूपी व्यर्थ के कचरे को उखाड़ते समय कुछ श्रम तो करना पड़ेगा, किन्तु जीवन की विशुद्धि में विघ्न–बाधाएँ उपस्थित नहीं होंगी। मान–समीक्षण की प्रक्रिया में निरत साधक यह भलीभांति जान जाता है कि मान मुझे पथभ्रष्ट करने वाला है। इसे जीवन में स्थान देना अन्य अनेक दुर्गुणों के लिए प्रवेश द्वार खुला रखना है। दुर्गुण यदि जीवन में प्रवेश करने लग गये तो सद्गुण कमजोर हो दब जायेंगे तथा समय आने पर जीवन में दुर्गुणों का अखाड़ा जम जायेगा। परिणामस्वरूप असीम पुण्योदय से जो मानव तन मिला है, उसका उद्देश्य सफल नहीं होगा। यही नहीं, इस तन की समाप्ति के पश्चात् आत्मा चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करती रहेगी। यह आत्मा की बहुत बड़ी विडम्बना होगी।

अमर बेल का छोटा–सा टुकड़ा भी वृक्ष पर रह जाता है तो वह

पूरे वृक्ष को ही सुखा डालता है। वैसे ही स्वल्प दुर्गुण भी अमर बेल की तरह जीवन के सद्गुण रूपी वृक्ष को सुखा डालता है। एक उदाहरण लीजिए। एक पुरुष किसी विशिष्ट पुरुष के पास उपस्थित हुआ और उसने उससे पूछा– "मेरे पुण्य अधिक हैं या पाप ? उसने कहा– "पुण्य तुम्हारे प्रचुर हैं, पाप अति स्वल्प हैं।" तब उसने सोचा कि स्वल्प ही पाप क्यों रखूँ, अतः उस स्वल्प पाप को पहले भोग लूँ। संयोग ऐसा मिला कि वह गिरगिट की योनि में चला गया और उसने मक्खी मच्छरादि जंतुओं को मारने का ही ख्याल रखा। उसने पुनः विशिष्ट पुरुष से पूछा– "अब मेरा पाप कितना रहा है ? तो उसने कहा– "अब तेरे पाप की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई है और पुण्य की मात्रा स्वल्प रह गयी है। अब तू सद्गति में जाने जैसी अवस्था में नहीं रहा।" इसी प्रकार यदि समीक्षण के द्वारा स्वल्प मान रूपी दुर्गुण को नहीं देखा गया तो उल्लिखित रूपक की दशा बन सकती है। अतः साधक को सतत जागरूक रहकर अनवरत स्वल्पातिस्वल्प मान का भी समीक्षण करते हुए उससे विलग रहना चाहिए। उसे आदर–सत्कार न देते हुए अपने जीवन में तप रूपी रसायन का सेवन कर उसकी जड़ को ही सर्वथा उखाड़ फेंकने का सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

लाभ-मद का सर्जक

कमजोर मानव किसी भी वस्तु के लाभ को पचा नहीं सकता। लाभ को पाकर वह गर्वित बन जाता है। यह सोचता है कि मुझे इस प्रकार का विपुल लाभ प्राप्त है। मेरे समान लाभ प्राप्त करने वाला अन्य कौन हो सकता है ? लाभ केवल अर्थ का ही नहीं होता, विद्या का लाभ, परिवार का लाभ, यशकीर्ति का लाभ, शारीरिक स्वस्थता का लाभ आदि कई प्रकार के लाभ होते हैं। उन लाभों को क्षुद्रप्रकृति या कमजोर मनःस्थिति वाले हजम नहीं कर पाते। वे इसे पाकर इतना बेभान हो जाते हैं कि जिससे दूसरों को कुछ नहीं गिनते, उन्हें तिरस्कृत करते हैं।

लाभ–मद का शिकार मानव अपनी अपेक्षा हीन–स्थिति वाले

पुरुषों को तुच्छ समझता है, उनकी अवमूल्यना करता है, उपकार का एहसान जतलाता है, उन्हें हर समय दबाने की चेष्टा करता है। उन्हें अपनी अधीनता में रखना चाहता है। उनकी बात न सुनकर दुत्कार देता है। अपने आपको सर्वेसर्वा समझने लगता है परिणाम यह होता है कि अपनी गर्वोन्मत्तता में शुद्धाचार विचार का विलय करता रहता है। इससे पुण्य का ह्रास और पाप की अभिवृद्धि होने लगती है, जिससे उसके लाभ की स्थिति भी उससे विमुख बनने लगती है और वह स्वयं जिनका तिरस्कार करता था, समय आने पर उन जैसा बन जाता है। फिर तो आर्त-रौद्र ध्यान की परिणति उत्तरोत्तर बढ़ती रहने से अशांति बढ़ जाती है। हाय हाय का सिलसिला प्रारंभ हो जाता है, वह दुःखानुभव करने लगता है। अतः प्रत्येक भव्यात्मा को लाभ का मद कभी नहीं करना चाहिए। अपने जीवन का समीक्षण करते हुए लाभ की उपलब्धि तथा उसके विनश्वर स्वभाव का चिंतन-मनन कर निर्ममत्व भाव की साधना साधते समय अपने से लाभ में जो श्रेष्ठ हैं उनको मध्यस्थ भाव से देखने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इस पद्धति से लाभ के मद से विर्निमुक्त बना जा सकता है और लाभ का सदुपयोग भी किया जा सकता है। अतः प्रत्येक भव्य प्राणी को उपर्युक्त रीत्या समीक्षण कर मान को सर्जक लाभ के प्रति उपेक्षित बन उससे निर्लिप्त रहते हुए समत्व के साथ उसका सदुपयोग करना आत्मविकास के स्रोत-द्वार में प्रवेश करने के तुल्य है।

श्रुत का दर्प

मानव-जीवन जगत् के समग्र प्राणियों के जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ जीवन है। इस जीवन से पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट साधना साधी जा सकती है। किन्तु ज्ञान की साधना अति ही कठिन है। इस साधना को साधने के लिए अपनी समग्र सुख-सुविधाओं को परित्याग करके ज्ञानदाता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा करके ज्ञानदाता के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा करके चलना पड़ता है। उनके अनुशासन में रहना पड़ता है। उनके प्रति आदर-सत्कार-सम्मान की भावना रखते हुए विनय-धर्म की आराधना करनी पड़ती है।

जब अंतरंग में प्रबल जिज्ञासा श्रुत ज्ञान के प्रति जागृत होती है तब जिज्ञासु एकाग्रता, एकावधानता के साथ उसे श्रवण कर पकड़ने की चेष्टा करता है तथा उस पकड़ के लिए सतत जागरूक रहता है।

श्रुतज्ञान श्रवण करने–कराने योग्य होता है। यह किसी व्यक्ति–विशेष की या किसी समाज एवं राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं है। यह प्रत्येक प्राणी की धरोहर है। इस धरोहर को उपलब्ध करने की योग्यता रखने वाला चैतन्य देव इसकी उपलब्धि कर सकता है। उसकी उपलब्धि करने वाला व्यक्ति यदि विवेक–विज्ञान से युक्त है तो श्रुत उसके लिए भूषण बनता है। यदि विवेक–विज्ञान से सम्पन्न नहीं है तो प्राप्त श्रुत से दोषों का पोषण कर लेता है। उनमें भी अभिमान रूपी दोष को उभरने में विशेष संबल मिल जाता है। श्रुत का अध्येता अपने मन में अभिमान को पुष्ट करने के लिए कहने लगता है– मेरे जैसा श्रुत ज्ञानी कोई नहीं है, मैं ही सर्वोपरि श्रुत का ज्ञाता हूँ। मैं अन्य को अध्यापन करने में कुशल हूँ। अन्य कोई मेरी तरह कुशलतापूर्वक अध्ययन करवा नहीं सकता, क्योंकि वे इसके रहस्य के विज्ञाता (जानकर) ही नहीं हैं– इत्यादि शब्दों से जनसाधारण को भ्रमित करता हुआ एवं जनसाधारण के मस्तिष्क में अन्य के लिए घृणा पैदा करता हुआ निज के अभिमान का पोषण करता रहता है। ऐसा मानी स्वयं को तो नीचे गिराता ही है, साथ ही अन्य व्यक्तियों के लिए भी ज्ञात–अज्ञात रूप से दूषित वायुमंडल निर्मित करता है। अतएव समता की साधना करने वाले साधक को चाहिए कि इस प्रकार के अभिमान का भी समीक्षण करके चिंतन करे कि श्रुत किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं है, यह तो समग्र मानव–समुदाय की है और उन्हीं के लिए है।

जो सम्यक्श्रुत है वह तीर्थंकर देवों की देन है। उन्होंने परिपूर्ण साधना के पश्चात् निःस्वार्थ भावनापूर्वक सभी प्राणियों के लिए रक्षा रूप दया के हेतु उपदिष्ट किया है। अतएव मौलिक अर्थ रूप देन वीतराग देवों की है। गणधरों ने गद्य–पद्यात्मक रूप में उस अर्थ को ग्रथित किया। सुधर्मा स्वामी आदि आचार्य प्रवरों ने उस महान् देन को

सुरक्षित रखा। उस श्रुत का मैं अध्ययन करता हूँ तो वह मेरी क्षयोपशमिक अवस्थानुसार हो जाता है। उसी परम्परा को सुरक्षित रखते हुए कुछ अध्ययन–अध्यापन करता कराता हूँ तो इसमें कौन–सा असाधारण कार्य कर रहा हूँ। जितना मैं श्रुत का ज्ञान कर पाया हूँ उससे कई गुण अधिक सुधर्मा–स्वामी तथा अन्य गणधरों का था। उन महापुरुषों ने विराट् श्रुत को अपने जीवन में स्थान देते हुए अभिमान नहीं किया, किन्तु उसके फलस्वरूप अन्य दोषों को भी विसर्जित कर दिया। यह सम्यक् श्रुत जीवन के दुर्गुणों–दोषों को परिमार्जित करने के लिए है न कि बढ़ाने के लिए। अतएव मेरे जीवन में कदाचित् अज्ञात रूप से, कहीं पर भी श्रुत को लेकर मान का अंकुर उभरता हो तो उसको मैं समीक्षण दृष्टि से अन्वेषित कर बाहर कर दूँ और निरभिमान वृत्ति से साधना में तन्मय बन जाऊँ। रहा प्रश्न लौकिक श्रुत का वह अपूर्ण व्यक्तियों की देन है। उसमें तारतम्य रहता ही है। तथा उनमें परिवर्तन–परिवर्धन भी समय–समय पर होता रहता है। उसका कोई निश्चित निर्णायक रूप नहीं होता। अतएव लौकिक श्रुत के अध्ययन को लेकर अभिमान करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस प्रकार साधक चिंतन करता रहे। समता से जीवन को ओतप्रोत बना समीक्षण दृष्टि को उत्तरोत्तर विकसित करूँ, यही उसकी भावना सदा बनी रहनी चाहिए।

ऐश्वर्य-मानवर्धक

मानव विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता रहता है। सांसारिक मनुष्यों को संसार का वैभव अच्छा लगता है। उसके लिए वे अपने जीवन को प्रायः समर्पित कर देते हैं और अनेक विधियों से वैभव–सम्पादन की प्रक्रिया भी चालू रखते हैं। उसमें दुनिया को बताने के लिए भले ही कुछ नैतिकता का उद्घोष किया जाता हो, किन्तु वस्तुतः तथाकथित नैतिकता प्रायः धर्म से विहीन होने के कारण अनैतिकता की श्रेणी में ही गिनने योग्य बनती है। क्योंकि उस प्रक्रिया में झूठ प्रपंचादि कूटनीतियों का अम्बार सा लग जाता है। इससे आत्मा का अवमूल्यन

भी विशेष होता है। नवीन–नवीन कर्म बंधनों से चैतन्य देव की शक्तियाँ आच्छादित होती रहती हैं। चैतन्य देव की उपेक्षा कर कदाचित् कुछ वैभव पा लिया तो पुरुष सोचता है कि बहुत बड़ा वैभवशाली हूँ, मेरी तुल्यता में अन्य कोई आ नहीं सकता। इस प्रकार अभियान वृत्ति को पनपाता हुआ चलने लगता हैं। संयोगवश कभी ग्रामपंच, सरपंच, चेयरमैन आदि अधिकारियों के साथ विधायक (एम.एल.ए.), एम.पी. मिनिस्टर, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति आदि अधिकारों से सम्पन्न हो गया तो मान आसमान को छूने लगता है। कोई अध्यापक, प्रोफेसर, डॉक्टर, बैरिस्टर, वकील या सुप्रीम कोर्ट आदि का जज हो गया अथवा इसी प्रकार के न्यूनाधिक मात्रा में अन्य ऐश्वर्य को वर लिया तो अपने आपको संभाल नहीं पाता, हवा में उड़ने लगता है। व्योम से बातें करने लगता है। धराधाम को प्रकम्पित करता हुआ स्वयं से न्यून ऐश्वर्य वालों को नचाने लगता है। उन्हें पद–दलित कर हीन बनाने को कोशिश करता रहता है। यह एक ऐसा मद है जो मानव को दानव बना देता है। आँखें होते हुए भी उसे अंधा बना देता है। मानव–तनधारी पुरुष को राक्षस–रूप का प्रतिनिधि बना देता है। रावण, कंस, जरासंध आदि इसके ज्वलतं उदाहरण है। आधुनिक युग में भी इस प्रकार के अनेकानेक पुरुष हो सकते हैं। इस रोग से ग्रस्त रोगी स्वयं को तो असाध्य रोग में समाप्त करते ही हैं, छूत रोग की भांति अन्यों को भी रोगी बनाते हैं। अतएव साधक को समीक्षण दृष्टि का सदा सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। इसी दृष्टि से अंतरंग एवं बाह्य प्रत्येक तत्त्व का अवलोकन होने लगे तो व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में सफल कार्यकर बन सकता है। जिन बाह्य क्रिया–कलापों से विभिन्न समस्याएँ समुत्पन्न होती हैं, परिणामस्वरूप तनाव, अशुभ चिंतादि दुर्वृत्तियाँ पनपती रहती हैं, उनका पनपना बंद हो सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब साधक समीक्षण करता हुआ यह देखे कि यह तनाव किन कारणों से है ? उन कारणों के अन्वेषणों से ज्ञात होगा कि जिन तत्त्वों के प्रति मान की पकड़ है, वह पकड़ ही तनाव का मुख्य एवं मूल कारण है। मान का पोषण करने के लिए ही तनाव आदि अनेक बीमारियाँ अंकुरित,

पल्लवित व पुष्पित होकर फलित हो रही हैं। यह अमूल्य जीवन असाध्य आंतरिक रोगों से ग्रस्त बनता जा रहा है। उससे वास्तविक लाभ तो कुछ भी नहीं, किन्तु हानियों का अम्बार–सा लगता जाता है।

बहिर्दृष्टि मानव मान की इस पकड़ को देख नहीं पाता। अतएव उसे छोड़ने की कला भी नहीं जान पाता। वह कला आ भी कैसे सकती है जब तक वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान न हो, इसके बिना उसे कला का विज्ञान प्राप्त नहीं होगा। कला का विज्ञान प्राप्त करने के लिए समीक्षण दृष्टि की समग्र उपायों में श्रेष्ठतम उपाय है। अतएव साधक के लिए समीक्षण दृष्टि की विधि प्राप्त कर उसे प्रयोग में लना नितांत आवश्यक है।

समीक्षण दृष्टि ऐसी आंतरिक दृष्टि है कि जिससे बाह्य तत्त्वों के अवलोकन के साथ–साथ आंतरिक तत्त्वों का भी अवलोकन हो जाता है। भीतर में भी अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त आत्मा का वैभाविक गुण, जो अभिमान की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, भलीभांति दिखने लगता है। साथ ही इससे होने वाले आध्यात्मिक एवं मानसिक दुःसाध्य रोग भी विदित हो जाते हैं। पर यह तभी शक्य है जबकि इस विशिष्ट दृष्टि का सत्कार–सम्मान पूर्वक, जिज्ञासा पूर्वक श्रद्धान्वित होकर दीर्घकाल तक अनवरत अभ्यास किया जाए। यह अभ्यास साधक की रुचि पर निर्भर है। आवश्यकता है उस रुचि को जागृत करने की ओर वह भी सामान्य नहीं, तीव्रतर होनी चाहिए।

